हिन्दी के विख्यात कवि एवं लेखक—
अगाध श्रद्धा के पात्र श्रीरामनरेश त्रिपाठीजी को,
जिनके उज्ज्वल व्यक्तित्व
और
पाण्डित्य के सम्पर्क में साहित्यिक प्रेरणाएँ मिली थीं,
भक्तिकाल के प्रतिनिधि कवियों की प्रवृत्तियों का यह
विश्लेषणात्मक ग्रन्थ सश्रद्धा समर्पित

—सत्यदेव चतुर्वेदी

दूसरे लोगों के लिए मार्ग आलोकित किया हो, उसमें मेरे जैसे हिंदी के साधारण विद्यार्थी के लिए अपनी मशाल लेकर चलना दुस्साहसमात्र गिना जाता। इसलिए मैं प्रस्तुत ग्रन्थ मे किसी प्रकार की मौलिकता का दावा नहीं करता, फिर भी लगता है उस महासागर से दो चार मोती ढूँढ लाने का श्रेय शायद मुझे भी मिलेगा। "अति अपार जे सरितवर जो नृप सेतु कराहिं। चढ़ि पिपीलिकउ परम लघु बिनु श्रम पारहि जाहिं।"

जिन ग्रन्थों के अध्ययन से यह पुस्तक तैयार हुई है, उनके प्रणेता मनीषियों का मैं हृदय से अत्यन्त आभारी हूँ।

हिन्दी-साहित्य की भक्तिकालीन रचनाओं के अन्तर्गत आयी हुई, मुख्य प्रवृत्तियों के व्यापक क्षेत्र तथा कवियों और काव्यों के संबंध मे निम्नलिखित दृष्टिकोण हैं :—

१—मूलस्रोत काल और परिस्थित का प्रभाव, २—काव्य-पद्धति, ३—दार्शनिक दृष्टिकोण, ४—मत और सिद्धान्त, ५—रचनाएँ और भाषा पर अधिकार तथा, ६—प्रमुख कवि का साहित्य मे स्थान एव उसकी विशेषता का सिंहावलोकन। इसका अध्ययन उपस्थित करने के लिए आचार्य श्रीरामचन्द्र शुक्ल के द्वारा भक्ति-युग के कवियों के विभाजन को ही आधार माना गया है। उन्होंने इन कवियों को चार धाराओं में विभक्त किया है :—

१—ज्ञानाश्रयी शाखा या सन्त-काव्य, २—प्रेममार्गी (सूफी) शाखा या प्रेम-काव्य, ३—रामभक्ति शाखा या राम-काव्य और कृष्णभक्ति शाखा या कृष्ण-काव्य।

इस प्रकार मैंने इन्हीं उपर्युक्त आधारों पर प्रस्तुत ग्रन्थ की विषय-वस्तु का निर्माण किया है। प्रबल इच्छा थी कि ग्रन्थ को अधिक व्यापक और विस्तृत बनाता, परन्तु इस समय इतने में ही सतोष कर रहा हूँ। जिस पाठक-वर्ग को ध्यान में रख कर मैंने प्रस्तुत ग्रन्थ लिखा, उसे यदि मेरे प्रयास से संतोष हुआ और हिंदी साहित्य के इस महत्वपूर्ण काल के सम्यक् अध्ययन की ओर अभि-

रुचि उत्पन्न हुई तो मैं कृतकृत्य हो जाऊँगा।

सहायक ग्रन्थों की सूची –

'श्रीमद्वाल्मीकि रामायण', 'श्रीमद्भागवत महापुराण', 'महाभारत', और 'अध्यात्म रामायण' आदि—आर्ष ग्रन्थ।

'कवितावली', 'गीतावली', 'दोहावली', और 'रामचरित मानस' तुलसीदास—(गीताप्रेस, गोरखपुर), 'उपनिषदांक', 'हिन्दू-संस्कृति अंक'—(गीताप्रेस, गोरखपुर)।

'विनय-पत्रिका', और 'नवमाधुर्यसार'—श्रीवियोगीहरि।

'गोस्वामी तुलसीदास' और 'कबीर ग्रन्थावली'—(बाबू श्रीश्यामसुन्दरदास)।

'कबीर' और 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' आचार्य श्रीहजारीप्रसाद द्विवेदी।

'तुलसीदास'—डा० श्रीमाताप्रसाद गुप्त।

'दर्शन दिग्दर्शन'– श्रीराहुलसांकृत्यायन।

'सूरदास', 'सूरसागर', और 'मानसांक'—आचार्य श्रीनन्ददुलार वाजपेयी।

'हिन्दी साहित्य का इतिहास', 'जायसी ग्रन्थावली', 'गोस्वामी तुलसीदास' और 'त्रिवेणी'—आचार्य श्रीरामचन्द्र शुक्ल।

'हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', 'कबीर का रहस्यवाद' और 'सन्तकबीर'—डा० श्रीरामकुमार वर्मा।

'तुलसीदास और उनकी कविता' तथा 'रामचरित-मानस'– श्रीरामनरेश त्रिपाठी।

'तुलसीदास और उनका युग'—डा० श्रीराजपति दीक्षित।

श्रीरामचरित-मानस की भूमिका'—श्रीरामदास गौड़।

'हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य'—डा० श्रीकमलकुल श्रेष्ठ।

'तुलसी दर्शन'—श्रीबलदेव उपाध्याय।

'पूर्वी-पश्चिमी-दर्शन'—डा० श्रीराजदेव उपाध्याय।

'तसव्वुफ़ अथवा सूफ़ीमत'—श्रीचन्द्रबली पाण्डेय।

इनके अतिरिक्त सामयिक पत्र-पत्रिकाएँ आदि।

अन्त में मैं अपने अग्रज श्री श्रीकृष्णदासजी का आभार मानता हूँ, जिन्होंने पुस्तक प्रणयन की सामग्री के अध्ययन का सुझाव देकर मेरा पथ आलोकित किया है और समय-समय पर जिनसे मुझे बड़ी प्रेरणाएँ मिलती रहती हैं।

हिन्दी-साहित्य सृजन-परिषद्,
जौनपुर, उत्तर प्रदेश

—सत्यदेव चतुर्वेदी

विषय-सूची

१—निर्गुण धारा

२—सगुण-धारा

——

सम्मतियाँ

'मैंने श्रीसत्यदेव चतुर्वेदी की 'हिन्दी-काव्य की भक्तिकालीन प्रवृत्तियाँ और उनके मूलस्रोत' पुस्तक देखी है। अनेक बातों का स्पष्टीकरण अच्छा किया गया है। मुझे पुस्तक बड़ी उपयोगी प्रतीत हुई।'

सागर विश्वविद्यालय, सागर —आचार्य श्रीनन्ददुलारे वाजपेयी

'हिन्दी-काव्य की भक्तिकालीन प्रवृत्तियाँ और उनके मूलस्रोत' पुस्तक मैंने देखी। पुस्तक अध्ययन और परिश्रम से लिखी गई है। विद्यार्थियों के लिये उपयोगी सिद्ध होगी। श्रीचतुर्वेदीजी इस क्षेत्र में निरन्तर आगे बढ़ते रहें, यही मेरी इच्छा है।'

साकेत —डा० श्रीरामकुमार वर्मा,
प्रयाग एम० ए० पी-एच० डी०

'मैंने प० सत्यदेव चतुर्वेदी द्वारा लिखित 'हिन्द-काव्य की भक्तिकालीन प्रवृत्तियाँ और उनके मूलस्रोत' पुस्तक देखी। पुस्तक में अनेक विषयों का विवेचन अच्छी तरह किया गया है। यह छात्रों के लिए नितान्त उपादेय है। साहित्य के अन्य जिज्ञासु भी इससे लाभ उठा सकते हैं।'

प्रयाग विश्वविद्यालय —डा० श्रीउदयनारायण तिवारी
प्रयाग एम० ए० पी-एच० डी०

'श्रीसत्यदेव चतुर्वेदी कृत यह ग्रन्थ शोधपूर्ण तथा विचारोत्तेजक है। हम में से अनेक ऐसे लोग होंगे जो उनकी विभिन्न मान्यताओं से सहमत न होंगे। परन्तु पृष्ठपेषण करना और चर्वित चर्वण को पाठकों के सम्मुख उपस्थित करना उन्हें सह्य नहीं है। मौलिकता उनके स्वभाव का हिस्सा है और अपने अध्यवसाय, साधना, अनुसंधान तथा दृष्टिकोण के सहारे उन्होंने प्रस्तुत पुस्तक में ताजगी ला दी है। विद्यार्थी तो इससे लाभान्वित होंगे ही, साधारण पाठक वर्ग भी इससे प्रेरणा ग्रहण करेगा। मैं श्रीचतुर्वेदीजी को उनके इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ के लिये साधुवाद देता हूँ।'

साहित्य सम्पादक अमृत-पत्रिका, प्रयाग —श्रीश्रीकृष्णदास

१—ज्ञानाश्रयी शाखा या सन्त-काव्य

(क) मूलस्रोत; काल और परिस्थिति का प्रभाव—भारतीय मनीषा ने अपनी चिन्ताधारा के प्रथम विकासकाल में समग्र परिवर्तनशील ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत जिस तत्व को शाश्वत समझा, उसका नाम 'ब्रह्म' घोषित किया। यही ब्रह्म जिज्ञासा का विषय बना। इसी परमतत्व की अनुभूति तथा बोध हमारी चिन्ताधारा का साध्य हुआ। इसी साध्य-परमतत्व की प्राप्ति के निमित्त कर्म, ज्ञान और भक्ति, तीन साधना मार्गों का, भिन्न भिन्न विचारकों के द्वारा विधान हुआ। इनमें से कर्म का विवेचन, आरण्यकों, संहिताओं और ब्राह्मण ग्रन्थों के अन्तर्गत विस्तारपूर्वक किया गया है; ज्ञान का पूर्ण विकास उपनिषदों की तत्वमीमांसा के अन्तर्गत मिलता है और भक्ति का प्रवाह 'महाभारत' के पूर्व से ही कभी-कभी शिथिल और कभी प्रबल होकर चलता आ रहा है। धर्म की धारा; कर्म, ज्ञान एवं भक्ति इन्हीं तीन प्रवाहों में चलती है। जब तक इन प्रवाहों में सामञ्जस्य रहता है, तब तक धर्म की धारा प्रबल रहती है। इनमें से किसी एक के भी अभाव में उसका प्रवाह शिथिल हो जाता है। इनके अतिरिक्त योग-मार्ग भी एक साधना पद्धति है, जिसका भी महत्व इन्कारा नहीं जा सकता; क्योंकि अपनी तात्विक विशेषताओं के कारण यह योग-मार्ग भी ज्ञान, कर्म और भक्ति के साथ सम्बद्ध है। समय पाकर कर्म पाखण्ड और बाह्याचारों की ओर, ज्ञान अद्वैवादिता तथा गुह्यरहस्यात्मकता की ओर और भक्ति विलासिता की ओर मुड़ जाती है, जिससे इन तीनों साधना मार्गों में दोष आ जाने का भय रहता है, ऐसा आचार्यो का विश्वास है।

तो, हिन्दी साहित्य के पूर्वमध्यकाल अर्थात् भक्ति-काल में साधना के ये तीनों मार्ग दोष ग्रस्त अवस्था में आ गए थे। इनके दूषित होने का कारण था—राजनीतिक विप्लव। भारतीय इतिहास के इस युग में दो संस्कृतियों के आदान प्रदान का समय था, जिसके कारण धार्मिक क्षेत्र में भी एक महान्

विप्लव उठ खड़ा हुआ था। इस धार्मिक विप्लव के समय दो प्रवृत्तियों के सुधारक दिखायी पड़ते हैं। एक तरह के सुधारक वे थे, जिन्होंने परम्परा से आती हुई रूढ़ियों पर अटल रहते हुए युगानुसार साधना पद्धतियों की नवीन व्याख्या की; क्योंकि उनके जीवन-दर्शन की महनीय चेतना से और प्राचीनता से किसी प्रकार की विषमता नहीं थी। इस प्रवृत्ति के सुधारकों में से थे—श्रीरामानुजाचार्य, रामानन्द और तुलसीदास आदि। दूसरी प्रवृत्ति के सुधारकों के विचारों से प्रकट है कि वे पुन. मूल तत्वों की ओर संकेत करते हैं और समस्त रूढ़ियों को अस्वीकार कर देते हैं। इस श्रेणी के सुधारकों में महात्मा कबीर और अन्य सन्त थे।

राजनीतिक और धार्मिक विप्लवों एवं दो संस्कृतियों के आदान प्रदान के फलस्वरूप हिन्दू मुसलमान ऐक्य या सामञ्जस्य की भावना ने महात्मा कबीर जैसे व्यक्तित्व को प्रभावित किया। उस समय राजनीतिक विप्लव के कारण सामाजिक क्षेत्र में नव परिवर्तन हुआ। सामाजिक परिस्थितियों में नयी जटिलता आ गयी थी। उस समय देश में छः धार्मिक धाराओं का प्रवाह चल रहा था—१ मुस्लिम एकेश्वरवादी धारा, २—सूफी प्रेममार्गी धारा, ३—हठयोग की धारा, ४—सहजयोगी निर्गुणमत की ज्ञानाश्रयी धारा, ५—वैष्णव भक्ति धारा और ६—शैव एवं शाक्तमत की धारा।

ये उपर्युक्त धार्मिक धाराएँ एक दूसरे को प्रभावित करती हुई बहुत समय तक समान रूप से प्रवाहित होती रहीं। ऐसे ही समय में महात्मा कबीर आविर्भूत हुए। हिन्दू-जनता को मुसलमानों के अत्याचारों से अपने जीवन में विशेष सङ्कट का सामना करना पड़ रहा था। उनके सकट निवारण का एकमात्र सहारा था धर्म-परिवर्त्तन। जो लोग धर्म परिवर्त्तन नहीं करना चाहते थे, उन्हें बड़ी बड़ी विपत्तियों का सामना करना पड़ता था। किन्तु हिन्दू मुस्लिम ऐक्य की भावनावाले विचारकों ने भक्ति भावना का एक नवीन मार्ग खोल दिया, जिसमें ऊँच-नीच का और छुआछूत का भेदभाव नहीं रखा गया। इस समय देश में प्रचलित वेदान्त का ज्ञानतत्व, सूफियों का प्रेमतत्व, तथा वैष्णवों का 'अहिंसा' तथा 'प्रपत्ति' तत्व आदि ग्रहण कर नवीन पथ, धार्मिकक्षेत्र में खोल

देनेवाले महात्मा कबीर तुच्छ जनता का प्रतिनिधित्व करने लगे। देश में प्रचलित इन धार्मिक सम्प्रदायों के मूल तत्त्वों ने कबीर को इस भाँति प्रभावित किया कि वे इनकी उपेक्षा नहीं कर सकते थे। ज्ञानाश्रयी अर्थात् निर्गुण धारा के अन्तर्गत जो प्रवृत्ति पायी जाती है, उसके प्रवर्त्तक महात्मा कबीर थे।

५(ख) मत और सिद्धान्त—महात्मा कबीर ने अद्वैतवाद और सूफीमत के मिश्रण से अपने रहस्यवाद की सृष्टि की। इस रहस्यवादी सिद्धान्त के अनुसार आत्मा परमात्मा से मिलकर एक स्वरूप हो जाती है। इसके मूल में प्रेम की प्रधानता है, जिसकी श्रेणी दाम्पत्य प्रेम की है। इस रहस्यवाद में कबीर ने आत्मा को स्त्री रूप देकर परमात्मा रूपी पति की आराधना की है। जब तक ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो जाती तब तक आत्मा विरहिणी स्त्री की भाँति दुःखी रहता है। जब आत्मा ईश्वर को पा लेती है, तब रहस्यवाद के आदर्श की पूर्ति हो जाती है। ईश्वर की उपासना में महात्मा कबीर ने अपनी आत्मा को पूर्ण रूप से पतिव्रता स्त्री माना है। क्योंकि वे परमात्मा से मिलने के लिए अत्यन्त व्याकुल हैं। ईश्वर से विरह का जीवन उन्हें असह्य है —

> "बहुत दिनन की जोवती बाट तुम्हारी राम।
> जिव तरसै तुम मिलन कूँ मन नाहीं विश्राम" ॥ १
>
> * *
>
> "कै विरहिन कूँ मीच दे कै आपा दिखलाइ।
> आठ पहर का दाझणा मो पै सह्या न जाय ॥" २

कबीर का रहस्यवाद अत्यन्त भावपूर्ण है। क्योंकि उसमें परमात्मा के लिए अविचल प्रेम है। जब उसकी पूर्ति होती है तो कबीर की आत्मा एक विवाहिता पत्नी की भाँति पति से मिलने पर प्रसन्न हो उठती है—

दुलहिनी गावहु मंगलचार। हम घर आए हो राजाराम भतार ॥३

विरह और मिलन के पक्ष में ही महात्मा कबीर ने रहस्यवाद की प्रतिष्ठा

१ कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ८। २ कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ १०।
३ कबीर ग्रन्थावली पृ० ८७।

की है। सन्तमत के अन्य कवियों ने भी इसी रहस्यवादी ढग की रचनाएं की। किन्तु कबीर जैसी अनुभूति उनमें नहीं है। इस मत के कवि अपने विचारों को साधारण भाषा में प्रकट करने को जब असमर्थ हुए हैं, तब उन्होंने किसी न किसी रूपक का आश्रय ग्रहण किया है। किन्तु इन रूपकों का अर्थ वे ही समझ पाते हैं, जो सन्तमत से पूर्ण परिचित होते हैं। कबीर की उल्टबासिया प्रसिद्ध हैं। जैसे —

> "पहले पूत पीछे भई माइ। चेला के गुरु लागै पाइ ॥
> जल की मछली तरवर ब्याइ। पकरि बिलाई मुरग खाई ॥
> पुहुप बिना एक तरवर फलिया, बिना करतूर बनाया।
> नारी बिना नार घट भरिया, सहज रूप सो पाया * ॥

इनका सम्बन्ध रहस्यवाद से है। कबीर ने रूपकों को प्राय पशुओं, जुलाहे की कार्यावली तथा दाम्पत्य प्रेम से लिया है।

महात्मा कबीर की रचना म गुरु का महत्व, नाम स्मरण, सगति कुसगति की विवेचना एव साधु और असाधु की विवेचना स्पष्ट रूप से हुई है। गुरु के उपदेश से ही माया का भ्रम दूर होता है, जिससे साधक का मन निर्मल हो जाता है और सासारिक विषय वासना के प्रति उदासीनता प्रकट होने लगती है। आत्मतत्व का बोधकरा, साधक के मन में गुरु ही स्थिरता प्रदान कराता है। महात्मा कबीर के अनुसार ज्ञान भक्ति की एक सीढ़ी मात्र है। ज्ञानोपदेश के द्वारा गुरु भक्त को भगवत्प्रेम का पाठ पढाताहै, इसीलिए शिष्य को भक्ति क्षेत्र में आने से पूर्व गुरु की खोज कर लेनी चाहिए। सत्गुरु की खोज कर लेने के पश्चात् शिष्य को चाहिए कि उसे वह आत्म समर्पण कर दे। नीचे कुछ पद दिए जाते हैं —

> "माया दीपक नर पतग भ्रमि भ्रमि इवै पडत।
> कहै कबीर गुरु ज्ञान के एक आध उबरन्त ॥"
> "थापणि पाई थिति भई, सतगुरु दीन्हीं धीर।

*कबीर ग्रन्थावली पृ० ६१।

कबीर हीरा वणजिया, मानसरोवर तीर ॥"

महात्मा कबीर ने नाम-स्मरण को बहुत महत्व दिया है, जिसमें ध्यान धारणा, पद सेवा आदि को स्थान नहीं दिया गया है। नाम स्मरण को कबीर ने जितना महत्व दिया है, उतना और किसी अन्य कवि ने नहीं दिया। वे कहते हैं और उनका इस पर दृढ़ विश्वास भी है कि:—

"कबीर सुमिरण सार है और सकल जंजाल।
आदि अन्त सब सोधिया दूजा देखों काल॥"

इसी भांति महात्मा कबीर ने सत्संगति को भी बहुत महत्व दिया है, किन्तु इसका विचार भी कर लेना आवश्यक है कि सत्संगति करने के पूर्व साधु असाधु का निर्णय कर लिया गया है, अथवा नहीं। साधुओं की पहचान के लिए कबीर ने कुछ आवश्यक लक्षणों को गिनाया है.—

'निष्काम भक्ति, विषय हीनता, विरक्ति, हरि प्रेम, मत्सरहीनता और अन्य लोगों के प्रति निःस्वार्थ आदर भाव इत्यादि। कबीर ने मन की कपट आशा, दुविधा और चिन्ता आदि को चेतावनी दी है, इन सभी मानसिक विकारों से दूर रहने के लिए उन्होंने उपदेश दिया है।—

मन गोरख मन गोविन्दा मन ही औघड़ होइ।
जे मन राखै जतनकरि तौ आपै करता सोइ॥"

(मन)के ऊपर कबीर ने बड़ी विस्तृत रचना की है। 'कथनी बिना करनी कौ अंग", "चित कपटी कौ अंग", "सारग्राही कौ अंग" "भ्रम कौ अंग", 'मधि कौ अंग" और 'बेसास कौ अंग"—अर्थात् कथनी और करनी का स्तर एक होना चाहिए। चित्त की दुविधा और कपट दोनों ही बुरे हैं। तत्वग्रहण करने की शिक्षा आवश्यक है, माला, तिलक, मुंडन, गेरुआ वस्त्र आदि साधुओं का वेश अर्थात् बाह्याडम्बर व्यर्थ है। मध्य मार्ग का प्रतिपादन—अर्थात् पंडित मार्ग, लोक मार्ग, द्वैत अद्वैत हिन्दू और मुसलमान आदि से सभी के कल्याण के लिए मध्य मार्ग खोजना। चिन्ता त्यागकर ईश्वर में दृढ़ता पूर्वक प्रीति करना। कबीर की रचनाओं से पता चलेगा कि उनके निम्नलिखित मत मुख्य हैं—

१—गोविन्द की कृपा से गुरु की प्राप्ति होती है।

२—माया, मोह, तृष्णा, कंचन और कामिनी के प्रति विरक्ति, भक्ति और ज्ञान की प्राप्ति आदि गुरु के ही द्वारा संभव है।

३—महात्मा कबीर का कथन है कि मनुष्य को भक्ति प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना आवश्यक है, जो गुरु की सेवा और सत्संगति से ही संभव है। इसके लिये अपने अवगुणों का परित्याग करते जाना तथा सद्गुणों का संग्रह करते रहना बहुत आवश्यक है।

४—साधक अन्त में विरह साधना में प्रविष्ट होता है। अब उसके लिए मात्र नामस्मरण का ही आधार बच पाता है। विरह की साधना में पहुँचकर भक्त आत्म समर्पण कर देता है। यही भावना 'लौ' नाम से विख्यात है।

५—आत्म समर्पण की भावना ईश्वर के प्रति हो। कबीर ने अलख, राम, निरंजन और हरि आदि अनेक नाम लिया है, जो ब्रह्म के प्रतीक हैं। उनका कथन है कि जो निराकार है, उसके गुणों या अवगुणों के वर्णन करने की क्षमता प्राणी-मात्र में नहीं है। उनके इन नामों के साथ मात्र अनुग्रह का भाव हो सकता है। इसके पश्चात् साधक प्रेम और आत्म समर्पण का भाव प्रकट करता है। यह स्थिति आगे चलकर इतनी बढ़ जाती है कि साधक अपने को 'राम का बहुरिया' का अनुभव करने लगता है। इस प्रकार महात्मा कबीर के विचार, वैष्णव मत के अत्यधिक समीप हैं। जो अन्तर है, वह आलम्बन में कुछ हेर फेर हो जाने के कारण साधनों में है। अवतार वादी दृष्टिकोण को न अपनाने के कारण महात्मा कबीर रूप विग्रह और ध्यान धारणा को सर्वथा मानते ही नहीं, परन्तु वे 'लय' की स्थिति में प्रविष्ट होने के लिए गोरखपंथ में प्रचलित कुंडलिनी, सुषुम्ना और षटकमल आदि के महत्व को मान लेते हैं। साधना को इन्होंने सहज माना है। योग साधना के बाह्याचारों को न मानते हुए भी कुंडलिनी जागृति करनेवाली योग साधना को थोड़ा-सा कबीर ने ग्रहण किया है। किन्तु उसमें भी भक्ति का ही प्रधानता उन्होंने दी है।

महात्मा कबीर एकेश्वरवाद, शिवावाद, मूर्तिपूजा, कर्मकाण्ड, व्रत उपवास तीर्थयात्रा, वर्णव्यवस्था आदि के विरोधी हैं। उनके मुताबिक के अनुसार एकेश्वरवाद शब्द ठीक नहीं, क्योंकि उनका ईश्वर परब्रह्म, निर्गुण और सगुण सब के परे है। वे अपने ईश्वर को 'सत्यलोक' का निवासी मानते हैं, किन्तु उसके लक्षण, कबीरदास ने वैष्णव ग्रन्थों में सगुण ब्रह्म के लिये वर्णित लक्षणों को ही माना है। भक्ति को छोड़कर उस 'सत्य' की प्राप्ति किसी अन्य-साधन से नहीं हो सकती। वे अपने ईश्वर का 'राम' शब्द द्वारा परिचय देते हैं। उनकी रचना में उनके ईश्वर के पर्यायवाची शब्द, हरि, नारायण, सारंगपाणि, समरथ, कर्त्ता, करतार, ब्रह्म और सत्य आदि भी आए हैं।

महात्मा कबीर जन्मान्तरवाद में विश्वास करते थे। उनके इस पद से प्रमाण मिलता है :—

"काशी का वासी मैं ब्राह्मन नाम मेरा परवीना।
एक बार हरि नाम बिसारा पकरि जोलाहा कीना॥"

अवतारवाद के विशेषण और ईश्वर की सगुणसत्ता के विधायक कार्यों की अभिव्यंजना करते हुए भी वे अवतार को नहीं मानते क्योंकि—

"दसरथ सुत तिहुँलोक बखाना। राम नाम का मरम है आना॥"

'राम' से कबीर का अभिप्राय निर्गुण ब्रह्म से है। वे लोगों को सदा 'निर्गुण' राम जपने का ही उपदेश देते थे। उनकी 'राम भावना' एकेश्वरवाद के निकट होने पर भी भारतीय ब्रह्मवाद से बहुत मिलती है। वे कहते हैं —

"खालिक-खलक, खलक में खालिक सब घट रह्यो समाई।"

अतः कबीर के राम सगुण और निर्गुण दोनों से परे हैं—

'अव्वल अल्लै नूर उपाया ताकी कैसी निन्दा।
ता नूर तें सब जग किया कौन भला कौन मन्दा॥"

महात्मा कबीर पढे लिखे तो थे नहीं अतः उन्हें दार्शनिक ग्रन्थों के अध्ययन का अवसर नहीं प्राप्त हुआ। उन्हें राम और रहीम में कोई अन्तर नहीं जान पड़ा। उस परमसत्ता के लिए वे राम, रहीम, अल्ला, सत्यनाम गोपाल

और माहब आदि कोई भी नाम प्रयुक्त कर देते हैं। क्योंकि उनके विचार से उस परम सत्ता के अनन्त नाम हैं। आचार्य श्रीसीताराम चतुर्वेदी एम० ए० कबीर के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में मानते हैं —

"भौतिकवाद से रहित भारतीय ब्रह्मवाद को ग्रहण करनेवाले कबीर पर जीवात्मा परमात्मा और जड़ जगत् तीनों से भिन्न सत्ता माननेवाले भौतिकवाद से युक्त ईश्वरवाद का प्रभाव नहीं पड़ा। वे चैतन्य के अतिरिक्त और किसी का अस्तित्व नहीं मानते थे। आत्मा और जड़-जगत् अन्त में उसी परमात्मा में विलीन हो जाता है। संसार में चारों ओर उन्हें ब्रह्म ही दिखलाई पड़ता है। उनकी रचनाओं में स्थान स्थान पर इसी आत्मवाद की झलक दिखलाई पड़ती है।

"पाणी ही तें हिम भया, हिम है गया बिलाई।
जो कुछ था सोई भया, अब कुछ कहा न जाई॥"

'जिस प्रकार छोटे से बीज के अन्दर बड़ा विशाल वृक्ष अन्तर्निहित रहता है, उसी प्रकार ज्ञान रूप ब्रह्म के अन्दर नाम रूपात्मक जगत् निहित रहता है, जिसे इच्छा होने पर ब्रह्म जब चाहता है तब विस्तार करता है और अन्त में अपने में समेट लेता है।

ब्रह्मवादियों की यही भावना कबीर के शब्दों में स्पष्ट दिखाई पड़ती है।

"इनमें आप, आप में सबहिन, मैं, आप आप सूँ खेले।
नाना भाँति घड़े सब भाँड़े रूप धरि धरि मेले॥"

(ग) सन्तमत का दार्शनिक दृष्टिकोण—इस मत के सन्तों की दार्शनिक विचारधारा के सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्रशुक्ल का मत है—'निर्गुण मत के सन्तों के सम्बन्ध में यह अच्छी तरह समझ रखना चाहिये कि उनमें कोई दार्शनिक व्यवस्था दिखाने का प्रयत्न व्यर्थ है, उन पर द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि का आरोप करके वर्गीकरण करना दार्शनिक पद्धति की अनभिज्ञता प्रकट करेगा। उनमें जो थोड़ा थोड़ा बहुत भेद दिखाई पड़ेगा वह उन अवयवों की न्यूनता या अधिकता के

कारण जिनका मेल करके निर्गुण पथ चला है। जैसे किसी में वेदान्त तत्व का अत्यन्त अधिक मिलेगा, किसी में योगियों के साधना तत्व का, किसी में सूफियों के मधुर प्रेम तत्व का और किसी में व्यावहारिक ईश्वर भक्ति (कर्त्ता, पिता, प्रभु की भावना से युक्त) का। निर्गुण पथ में जो थोड़ा बहुत ज्ञान पक्ष है, वह वेदान्त से लिया हुआ है, जो प्रेम तत्व है, वह सूफियों का है, न कि वैष्णवों का। 'अहिंसा" और "प्रपत्ति" के अतिरिक्त वैष्णवत्व का और कोई अंश उनमें नहीं है। उसके 'सुरति' और 'निरति' शब्द बौद्ध सिद्धों के हैं। बौद्ध धर्म के अष्टांगमार्ग के अंतिम मार्ग हैं — सम्यक्स्मृत और सम्यक्समाधि "सम्यक्स्मृति" वह दशा है जिसमें क्षण क्षण पर मिटनेवाला ज्ञान स्थिर हो जाता है और उसकी शृंखला बँध जाती है, अतः 'सुरति' 'निरति' शब्द योगियों की बानियों से आए हैं वैष्णवों से उनका कोई सम्बन्ध नहीं।*

सन्त काव्य में ऐसे ईश्वर की कल्पना की गई है, जो मुसलमानों तथा हिन्दुओं के धर्म में समान रूप से ग्राह्य हो सके। वह रूप कुरूप रहित है। वह एक है, वह सर्वशक्तिमय, सर्व व्यापक एवं अखण्ड ज्योति स्वरूप है। उसे समझने के लिए आत्मज्ञान की आवश्यकता है। भारत में ईश्वर के इस रूप का प्रचार हिन्दुओं और मुसलमानों की संस्कृति के मिश्रण से हुआ। इस सम्प्रदाय में जहाँ एक ओर अवतारवाद, मूर्ति पूजा तथा तीर्थव्रत आदि का विरोध है, वहाँ दूसरी ओर नमाज, रोजा और हलाल आदि का भी निषेध है। कर्मकाण्ड के अन्तर्गत जितने बाह्याडम्बर के रूप उपस्थित हो सकते हैं, सन्तमत में उनका बहिष्कार सब तरह से किया गया। वास्तव में हिन्दू और मुसलमान दोनों के धर्मों में जिन कर्म काण्डों के द्वारा भिन्नता [illegible] सकती थी, उसका बहिष्कार आवश्यक समझा गया। [illegible] काव्य ईश्वर के तात्त्विक स्वरूप की ही मीमांसा करता है। [illegible] विचारधारा और बौद्धिक गवेषणा के लिए कोई [illegible]

*आचार्य शुक्ल का "हिन्दी साहित्य का इतिहास" पृष्ठ [illegible] तथा ९३ देखिये

अत इस मत का दार्शनिकत्व किसी एक दार्शनिक श्रेणी के अन्तर्गत नहीं आ सकता, क्योंकि भारतीय ब्रह्मज्ञान, योग साधना और सूफियों के प्रेमतत्व के मिश्रण से अपना सिद्धान्त बनाकर उपासना के क्षेत्र में यह मत अग्रसर हुआ है।

महात्मा कबीर ने ईश्वर को सब गुणों से परे कहा है। उनका कथन है कि ईश्वर को किसी गुण विशेष से विभूषित करना, उसे सीमित करना है।

"बाहर कहूँ तो सद्गुरु लाजे, भीतर कहूँ तो झूठा लो"

"कोई ध्यावै निरकार को, कोई ध्यावै आकाश।
वह तो उन दोउन ते न्यारा जाने जाननहारा॥"

वास्तव में वह निर्गुण और सगुण से परे है –

"अवरन, वरन रूप मधु नाहा तहि सख्या आहि।
कहहिं कबीर पुकारि के अद्भुत कहिए ताहि॥
एक कहूँ तो है नहीं, दो कहूँ तो गारि।
है जैसा तैसा रहै, कहैं कबीर विचारि॥"

और उसके लिए एक तथा दो की संख्या भी नहीं कही जा सकती। मुसलमान लोग उसे एक कहते हैं, तो हिन्दू लोग उसे अनेक कहते हैं। किन्तु वह संख्या में नहीं बाधा जा सकता। परमात्मा सबसे परे है। वहाँ तक किसी का गति नहीं है —

"पंडित मिथ्या करहु विचारा, नहिं तहँ सृष्टि न सिरजनहारा
थूल अस्थूल पवन नहिं पावक, रवि ससि धरनि न नारा।
जोति सरूप काल नहिं उहवां बचन न आहि सरीरा॥"

उसका जो वास्तविक स्वरूप है, वह अकथनीय है, उसे 'ऐसा' और 'वैसा' से ही समझना पड़ता है, अब यह सिद्धान्त यहीं से रहस्यवाद हो जाता है, जिसके कथन के लिए रूपकों और अन्योक्तियों का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। इतना सब कुछ होते हुए भी ईश्वर को समग्र संसार में व्याप्त मानते हुए भी कबीर उसके दो विशेष रूप मानते हैं। एक शब्दस्वरूप और दूसरा ज्योतिस्वरूप।

यद्यपि मुसलमानों ने भी खुदा को नूर के रूप में ही देखा है, तथापि ज्योति की भावना बहुत पुरानी है। उपनिषदों में भी परमात्मा को ज्योति-स्वरूप कहा गया है।

"अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो य पश्यन्ति यतयः क्षीण दोषा।"

महात्मा कबीर ने भी उसे अपने अन्तर में ढूँढने को कहा है—

"मोको कहा ढूँढे बन्दे मैं तो तेरे पास मे"

उसी परमात्मा से सारे संसार की उत्पत्ति होती है। उसके अतिरिक्त संसार में और कोई नहीं है, इसके विषय में कबीर का कहना है—

'साधो एक आप जग माहीं।
दूजा करम भरम है किरतिम ज्यों दरपन में झाईं।
जल तरंग जिमि जल तें उपजे फिर जल माहिं रहाई॥"

उन्होंने अद्वैतवाद की भी ओर संकेत किया है—

"कौन कहन को कौन सुनन को दूजा कौन जना रे।
दरपन में प्रतिबिम्ब जो भासे आप चहूँ दिसि सोई॥
दुबिधा मिटे एक जब होवे तो लख पावे कोई।
जैसे जल ते हेम बनत है, हेम धूम जल होई॥
तैसे या तत वाहू तत सों फिर यह और वह सोई॥"

एक उदाहरण और:—

"दरियाव की लहर दरियाव है जी, दरियाव और लहर भिन्न कोयम।
उठे तो नीर है बैठता नीर है, कहो किस तरह दूसरा होयम॥
उसी नाम को फेर लहर धरा, लहर के कहे पानी खोयम॥"

कबीर ने माया को एक परमशक्ति माना है जिसका प्रभाव बड़े बड़े ऋषियों के ही नहीं, देवताओं तक के भी ऊपर है। —

"माया महा ठगिनि हम जानी।
निरगुन फास लिए कर डोलै बोलै मधुरी बानी॥"

किन्तु इस घोर माया से छुटकारा तभी मिल सकता है, जब 'पीव' की कृपा होती है—

"बहु बधन ते बाधिया, एक बिचारा जीव।
का बल छूटै आपने जो न छुड़ावै पीव॥"

भगवत् कृपा को कबीर ने भी माना है, सो यह बात नहीं है। प्राय सभी सम्प्रदाय व सन्त इसे मानते हैं। महात्मा तुलसीदास की भाँति कबीर भी दो प्रकार की माया मानते हैं —

"माया दोनों भाँति की देखी ठोक बजाय।
एक मिलावै राम पे, एक नरक ले जाय"—कबीर।
'गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥
तेहिकर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। विद्या अपर अविद्या दोऊ॥
एक दुष्ट अतिसय दुख रूपा। जा बस जीव परा भव कूपा॥
एक रचइ जग गुन बस जाकें। प्रभु प्रेरित नहि निजबल ताके॥"
—तुलसी

अन्त मे हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कबीर का दर्शन थोड़ा बहुत सभी दर्शनों के सिद्धान्तों से मिलता है। किसी एक दर्शन के ही सभी सिद्धान्त इनके नहीं हैं।

(घ) रचनाएँ और उनका साहित्यिक मूल्याङ्कन काव्य पद्धति—कलात्मकता की दृष्टि से सन्तमत का काव्य निम्नकोटि का है। इस श्रेणी के अन्तर्गत आनेवाली रचनाएँ, फुटकल दोहों या पदों के रूप में मिलती हैं, जिनकी भाषा तथा शैली प्राय अव्यवस्थित तथा ऊबड़खाबड़ है। इस वर्ग की भावना शास्त्रीय पद्धति से रहित होने के कारण शिक्षित वर्ग को अपनी ओर आकृष्ट न कर सकी। इस मत के सिद्धान्तों और विचारों की काव्य के अन्तर्गत जो मीमांसा की गयी है, वह दो एक प्रतिभा सम्पन्न कवियों की रचनाओं को छोड़कर, महत्वहीन है, क्योंकि इस मत के कवियों की रचनाओं में ज्ञान-मार्ग की सुनी सुनाई बातों का पिष्टपेषण एवं हठयोग की बातों के कुछ रूपक (भद्दा तुकबन्दियों) का ही आधिक्य है। भक्ति रसमें मग्न करनेवाली सरसता का सर्वथा अभाव सा है। यही कारण था कि जनता का अधिकांश समुदाय इसे ग्रहण न कर सका। किन्तु इतना तो मानना ही होगा कि अशिक्षित साधारण जनता को

इस सन्तमत ने बहुत प्रभावित किया। साहित्यिक क्षेत्र में इस मत का उतना महत्त्व नहीं रहा, जितना कि धार्मिक क्षेत्र में था। क्योंकि मुसलमानों का शासन प्रतिमा पूजन के लिए सर्वथा प्रतिकूल था, वे मूर्तियाँ तोड़ने में लग गये और च हिन्दू धर्म की मूर्ति-सम्बंधी प्रवृत्ति का अन्त कर देना चाहते थे। हिन्दू मता वलम्बियों के समक्ष एक जटिल समस्या थी, किन्तु इसका सुलझाव, सन्तमत में देने की चेष्टा की गयी। इसके प्रवर्तक महात्मा कबीर थे। उन्होंने हिन्दू और मुसलमानी धर्मों के मूल सिद्धान्तों के मिश्रण से एक नवीन पथ खड़ा किया। तात्त्विक दृष्टि से सन्त साहित्य का विषय प्रधानतः दो भागों में विभक्त हो सकता है। प्रथम तो आध्यात्मिक है और द्वितीय सामाजिक।

आध्यात्मिक भावनाके अन्तर्गत निराकार ईश्वर का गुणगान है, ईश्वरानु भूति के जितने साधन हो सकते हैं, उनका वर्णन—जैसे गुरु, भक्ति, साधु-संगति और विरह आदि। इसके अन्तर्गत दया, क्षमा, सतोष, भक्ति, विश्राम, मौन और उच्च विचार आदि को स्थान दिया जाता है। सामाजिक भावना के अन्त र्गत उपर्युक्त भावनाओं का जागरण कर कुरुचिपूर्ण भावनाओं का दमन कर जन माया, तृष्णा, कंचन कामिनी, निन्दा, मांसाहार एवं तीर्थ व्रत इत्यादि से बच कर शुद्ध अन्तःकरण से ईश्वर का चिन्तन आवश्यक है। सन्त काव्य के अन्त गत यदि विचार किया जाय तो समग्र-काव्य अध्यात्मिक आधार ग्रहण करता है। किन्तु इन मत साहित्य का अध्ययन करने से ज्ञात होगा कि ये सन्त न तो निराकार की ठीक उपासना कर सके हैं और न साकार की पूरी भक्ति ही। यद्यपि इन सन्तों के मत का प्रचार साधारण जनता में हुआ, किन्तु ईश्वर की भावना का रूप बहुत अस्पष्ट रह गया। उसे न तो निराकार ऐश्वर का उपा सना कही जा सकती है और न साकार की भक्ति ही।

सन्त-साहित्य में मुसलमानी प्रभाव बहुत अधिक पाया जाता है। क्योंकि सन्तमत मुसलमानी संस्कृति के अधिक निकट है। हिन्दू धर्म का रूपरेखा होते हुए भी इसके निर्माण में इस्लाम का हाथ प्रमुख रहा। इस विचारधारा के अन्तर्गत दो संस्कृतियों और दो धर्मों की धारा मिल कर प्रवाहित हुई है। इसके अन्तर्गत जो मूर्तिपूजा का विरोध और जाति-बन्धन का बहिष्कार पाया जाता

है, यह केवल इस्लाम की देन कही जा सकती है।

सन्त साहित्य मे जिन सिद्धान्तों की चर्चा है, वे अनेक बार दोहराए गए हैं। किसी कवि ने अपनी प्रतिभा से कोई मौलिक सन्देश देने का प्रयत्न नहीं किया। एक ही बात बार बार एक ही ढग से इस श्रेणी के कवियों ने शब्दों के हेर फेर मे कही हैं, जो साहित्यिक दृष्टि से महत्वहीन है।

सन्त-साहित्य के अन्तर्गत छोटे बड़े अनेक कवि हैं, किन्तु कबीरदास, रैदास या रविदास, धर्मदास, गुरुनानक, दादूदयाल, सुन्दरदास, मलूकदास और अक्षरअनन्य विशेष उल्लेखनीय हैं, इन कवियों मे महात्मा कबीरदास सन्तमत के प्रधान प्रवर्तक थे और साथ ही प्रतिनिधि कवि भी थे। अतः इस साहित्य के अन्तर्गत प्रतिनिधि कवि का ही साहित्य, साहित्यिक परीक्षण के लिए प्रस्तुत किया जा रहा है।

महात्मा कबीर और उनकी रचनाचातुरी—कबीर की कितनी रचनाएँ हैं, यह एक सर्वसम्मति से नहीं निश्चय किया जा सकता। क्योंकि कबीर के सम्बन्ध मे जब "मसि कागद छुआ नहीं" निश्चित है तो वे अपनी रचनाओं को लिपिबद्ध तो कर नहीं सके, निर्विवाद है। लिपिबद्ध करने का कार्य तो उनके शिष्यों ने किया होगा। यही कारण है कि महात्मा कबीर की रचनाओं का शुद्ध पाठ नहीं मिल पाता। किन्तु विद्वानों ने इनके ५७ ग्रन्थों को माना है जिनमें लगभग बीस हजार पद्य हैं।*

इन ग्रन्थों का वर्ण्य विषय प्रायः एक ही है। सभी ग्रन्थों मे ज्ञानोपदेश की ही चर्चा है; जिसमे योगाभ्यास, भक्त की दिनचर्या, सत्य वचन, प्रार्थना, विनय, नाम-महिमा, सन्तों का वर्णन, आरती उतारने की रीति, माया विषयक सिद्धान्त, सत्पुरुषनिरूपण, रागों मे उपदेश, गुरु महिमा, सत्सगति और स्वर-ज्ञान आदि का विवरण है। महात्मा कबीर की रचनाओं मे काव्य तत्व का उतना प्राधान्य नहीं है, जितना कि सिद्धान्तों के प्रतिपादन का। यही कारण

---

* डा० रामकुमार वर्मा कृत "हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास" पृ० २५८ तीसरा संस्करण देखिए।

है कि इनकी रचनाओं में साहित्य के सौन्दर्य का साक्षात्कार नहीं हो पाता। किन्तु उनमें एक महान सन्देश तो मिलता ही है। वास्तव में सम्पूर्ण सन्त साहित्य में साहित्यिकता का भली भाँति निर्वाह नहीं हो पाया है। इसमें तो भाव मिलेंगे, सिद्धान्त मिलेंगे और मिलेंगे आत्म-निर्माण सम्बन्धी उपदेश। किन्तु इस स्थल पर उनकी कुछ उत्कृष्ट रचनाओं पर विचार कर लेना आवश्यक है।

महात्मा कबीर रहस्यवादी कवि थे, जिस आधार पर उन्होंने परमात्मा को पति रूप में और आत्मा को पत्नी रूप में चित्रित किया है, ऊपर ऐसा लिखा जा चुका है। कबीर की यह कल्पना बड़ी सुन्दर है। इसी के कारण उनकी रचना में कुछ न कुछ साहित्य सौन्दर्य के भी दर्शन होते हैं। अर्थात उनकी रचना में विप्रलम्भ तथा संयोग शृंगार के स्रोत प्रवाहित होते दिखायी पड़ते हैं। इनमें से विप्रलम्भ शृंगार का वर्णन संयोग शृंगार की अपेक्षा अधिक सुन्दर और मर्मस्पर्शी है। कबीर के काव्य में वाग्वैदग्ध्य और उक्ति वैचित्र्य की अच्छी छटा दिखाई पड़ती है। लोक व्यवहार की अनेक बातें अनूठे ढंग से कहकर जनता को अपनी ओर आकृष्ट कर लेने की कबीरदास में अद्भुत प्रतिभा थी। इन्हीं के द्वारा कबीरदास ने नीति और धर्म का उपदेश दिया है। नीचे लिखे दोहे कितने प्रसिद्ध हैं :—

"आगे दिन पाछे गए, हरि सों किया न हेत।
अब पछताए होत क्या चिड़ियाँ चुग गईं खेत॥"
कुसल कुसल ही पूछते, जग में रहा न कोय।
जरा मुई न भय मुआ कुसल कहाँ ते होय॥
झूठे सुख को सुख कहै मानत है मन मोद।
जगत चबेना काल का कुछ मुख में कुछ गोद॥"

नारी के सम्बन्ध में कबीर का मत है :—

"नारी की झाईं परत अंधा होत भुजंग।
कबिरा तिनकी कौन गति नित नारी को संग॥"
"मांस दीठि को भख है, माहुर भागे जात।
निकट नारि पासे परी, काटि करेजो खात॥"

"कनक कामिनी देखि कै तुमत भूल सरग ।
बिछुरन मिलन दुहेकरा, केंचुकि तजे भुजग ॥"

कबीरदास अपनी भावाभिव्यंजना के लिए रूपकों का सहारा लेते हैं और भावों को स्पष्ट करने में वे इन्हीं के द्वारा सफल होते हैं।

"काहे री नलिनी तू कुम्हिलानी । तेरे हा नालि सरोवर पानी ॥टेक॥
जल मैं उत्पत्ति जल मैं बास । जल में नलिनी तोर निवास ॥
न तल तपति न ऊपरि आगि । तोर हेत कहु कासनि लागि ॥
कहै कबीर जे उदकि समान । ते नहि मुए हमारे जान ॥"

अर्थात् हे जीवात्मा ! तू दुखी क्यों है ? तेरे समीप ब्रह्मरूपी जल फैला हुआ है। तेरी उत्पत्ति उसी जल में है, और उसी में तू रहता भी है। अतएव तेरे प्यारा और दुःख का क्या काम ? तुमने क्या माया से तो मिलता नहीं कर ली है ? हे जीवात्मा ! यदि तू ब्रह्मरूपी जल में प्रीति कर लेगा तो अमरपद प्राप्त कर लेगा। इसी प्रकार एक पद और उदाहरण स्वरूप दे देना उचित है —

"हंसु हंसा प्यारे सरवर तज कहा जाय ।
जेहि सरवर बिच मोतिया चुगत होते बहुबिधि केलि कराय ॥
सूखे ताल पुरइन जल छाड़े कमल गइल कुम्हिलाय ।
कहहिं कबीर अबहिं के बिछुरे, बहुरि मिलहु कब आय ॥"

अर्थात् हे प्यारे हंस (जीव) ! इस शरीर (सखा) को त्याग कर तू कहाँ जा रहा है ? तुम्हारे जाते ही यह शरीर (ताल) सूख जायगा। नेत्रों (पुरइन) से आँसू गिरने लग जायगा और मुख (कमल) मुरझा जायगा। इस बार बिछोह होने से क्या फिर कभी मिल सकोगे ?

जीवात्मा का शरीर छोड़ने का कितना सुन्दर भावपूर्ण वर्णन है। इसमें ज्ञान और भावुकता का कितना सुन्दर समन्वय है !

इनके अतिरिक्त प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध जान पड़ने वाली उलटबाँसियाँ कबीरदास की रचनाओं में मिलती हैं। किन्तु साधारण अर्थ इन पदों का लगाने से तो सार रहित ये पद जान पड़ते हैं, किन्तु इनके अन्तर्गत हम तात्विक सिद्धान्त मिलेंगे। दो-एक पद नीचे दिए जाते हैं —

'अवधू जगत नींद न कीजै।
काल न खाय कलप नहिं व्यापै, देही जुरा न छीजै ॥ टेक ॥
उलटी गंग समुद्रहि सोखै, ससिहर सूर गरासै ॥
नवग्रह मारी रोगिया बैठे, जल में ब्यंब प्रकासै ॥
डाल गह्या तैं मूल न सूझै, मूल गह्या फल पाया ॥
* *
अंबर बरसै धरती भीजै, यहु जानै सब कोई ॥
धरती बरसै अंबर भीजै, बूझै बिरला कोई ॥"

(च) भाषा और उसपर अधिकार—महात्मा कबीर की वाणी का संग्रह 'बीजक' नाम से प्रसिद्ध है। 'रमैनी' 'सबद, और 'साखी' नाम से इसके तीन भाग हैं। जिसमें हिन्दू, मुसलमानों को फटकार दी गयी है, वेदान्ततत्त्व, संसार की अनित्यता, हृदय की पवित्रता, प्रेम साधना की कठिनता, तीर्थाटन, मूर्तिपूजा की निस्सारता, माया की प्रबलता, हज, नमाज, व्रत और आराधना की गौणता आदि विषयों का निरूपण हुआ है। साम्प्रदायिक शिक्षा और सिद्धान्त के उपदेश प्रधानतः 'साखी' के अन्तर्गत वर्णित हैं, जो दोहे में हैं। इसकी भाषा खड़ी बोली (राजस्थानी, पंजाबी मिली हुई) है। इसके अतिरिक्त 'रमैनी' और 'सबद' में गाने के पद हैं, जो भाषा की दृष्टि से काव्य की ब्रज भाषा तथा पूरबी बोली का कहीं कहीं व्यवहार माना जायगा।

कबीर की भाषा पर विचार करते समय सबसे बड़ी समस्या यह खड़ी होती है कि उनकी रचना का मूल रूप अप्राप्य है। इनकी रचना में पूर्वी, पश्चिमी, पंजाबी, ब्रज, राजस्थानी, अवधी, मैथिली, बंगाली, अरबी और फारसी आदि सभी भाषाओं के शब्द पाए जाते हैं। आचार्य शुक्ल के शब्दों में इनकी भाषा को सधुक्कड़ी भाषा ही कहना ठीक होगा। इनके पढ़े लिखे न होने के कारण इनके काव्य में व्याकरण के नियमों का पालन (लिंग, वचन, और कारक आदि का शुद्ध रूप) नहीं दिखायी पड़ता। इनके काव्य में भाषा का स्थिरता और एकरूपता नहीं है। शास्त्र ज्ञान के अभाव से इनकी भाषा साहित्य की सुन्दरता से रहित और भावाभिव्यंजना में असमर्थ हो जाती है।

महात्मा कबीर को स्वामी रामानन्दजी के शिष्यत्व के कारण वैष्णवों की शब्दावलियों से और शेख तकी तथा अन्य सूफी फकीरों के संग में फारसी तथा अरबी की शब्दावलियों से परिचित हो जाना कोई आश्चर्य की बात न थी। कबीर का सत्संग बहुत विस्तृत था। यही कारण था कि उनकी रचना में अनेक भाषाओं के शब्द आगए हैं। जब किसी भी भाषा का सम्यक् ज्ञान उन्हें नहीं था तो धारा प्रवाह रूप से सभी भाषाओं के शब्दों का प्रयोग कर अपनी भाषा को कबीर कैसे सँवार सकते थे? भाषा पर अधिकार जिस प्रकार हम सूर, तुलसी और जायसी का देखते हैं। वैसा कबीर की रचना में नहीं मिलता। इतना सब कुछ होते हुए भी कबीर ने जब अपनी रचना साहित्य के दृष्टिकोण से नहीं की, तब उसको साहित्य की शास्त्रीय कसौटी पर कसना ठीक भी नहीं।

(छ) साहित्य में स्थान—यद्यपि महात्मा कबीर ने पिंगल और अलंकार के आधार पर काव्य रचना नहीं की, तो भी उनकी उक्तियों में कहीं कहीं विलक्षण प्रभाव और चमत्कार दिखायी पड़ता है। वास्तव में काव्य की मर्यादा मानव जीवन की भावात्मक और कल्पनात्मक विवेचना में होती है। विचार किया जाय तो कबीर भावना की अनुभूतियों से संयुक्त है, वे जीवन के अत्यन्त निकट हैं इसलिए वे महाकवि में भी गिने जा सकते हैं। यद्यपि उनकी कविता में छन्द और अलंकार गौण हैं, किन्तु इन्होंने अपनी रचनाओं में एक महान् संदेश दिया है। इस संदेश की अभिव्यक्ति प्रणाली अलंकारों और शास्त्रीय पद्धतियों से रहित होने पर भी काव्यमय है। इसमें तो सन्देह नहीं है कि महात्मा कबीर की रचना में कला का अभाव है, पद विन्यास का कौशल नहीं है, "उलटबाँसियों" में क्लिष्ट कल्पना है, भाषा का परिमार्जित रूप नहीं है। किन्तु भावुक और स्पष्टवादी व्यक्ति होने के नाते उन्होंने अपनी प्रतिभा के सहारे अपने संदेशों को भावनात्मक रूप देकर अपनी रचनाओं को हृदयग्राही बना ही दिया।

धर्म की जिज्ञासा उठाने के लिए महात्मा कबीर उलटबासियों की रचना करते थे। अनेक प्रकार के रूपकों एवं अन्योक्तियों द्वारा इन्होंने ज्ञान का उपदेश दिया है, जो नवीन न होने पर भी वाग्वैचित्र्य के कारण साधारण

अशिक्षित जनता को चकित करता रहा।

इतना होते हुए भी भारतीय शिक्षित समाज पर प्रत्यक्ष रूप से कबीर का प्रभाव कोई विशेष नहीं पड़ सका। किन्तु समाज में इस भावना की लहर व्याप्त तो होती गई कि सबका ईश्वर एक है और सब ईश्वर के बन्दे हैं, जो हरि की वन्दना करता है, वह हरि का दास है—'हरि को भजै सो हरि का होइ। जाति पाँति पूछै नहिं कोई॥" कुछ भी हो महात्मा कबीर ने हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के लिए सफल प्रयत्न किया। इसमें सन्देह नहीं। अतः हिन्दी साहित्य में महात्मा कबीर जो कुछ कहना चाहते थे और जैसे भी कह पाए हैं उसे देखते हुए इन्हें ऊँचा स्थान तो मिल ही सकता है। क्योंकि इन्होंने जिस नवीन प्रणाली से उपदेश दिया है, उसमें मानव जीवन की भावात्मक और कल्पनात्मक विवेचना के साक्षात्कार होते हैं।

(ज) विशेषता—महात्मा कबीर की जैसी सूक्ष्म निरीक्षण और पैनी दृष्टि विस्तार की क्षमता सन्त साहित्य के अन्तर्गत गिने जानेवाले और किसी भी कवि में नहीं पाया जाती। महात्मा कबीर की नवोन्मेषशालिनी एवं अलौकिक प्रतिभा पर थोड़ा विचार कर लेना विषयान्तर न होगा। महात्मा कबीर की इस अद्भुत क्षमता का साक्षात्कार करने के लिए आवश्यक है कि उनके समय में फैली और उलझी हुई राजनैतिक परिस्थितियों के कारण अशान्त वातावरण में सांस्कृतिक तथा धार्मिक समस्याओं और परिस्थितियों की विषमता का दिग्दर्शन कर लिया जाय।

बहुत प्राचीन काल से ब्रह्म (परमतत्व) की प्राप्ति के लिए, विभिन्न मनीषियों के द्वारा निश्चित किए गए कर्म, ज्ञान और भक्ति, साधना के ये तीनों प्रमुख मार्ग चले आ रहे थे। कालान्तर में जब ये साधना पद्धतियाँ दोष ग्रस्त अवस्था में हो गयीं—(अर्थात् कर्म को प्रधानता देनेवाले वैदिक यज्ञ सम्बन्धी क्रियाओं की समाप्ति घोर हिंसात्मक बलिदानों में हुई, उपनिषदों का ज्ञानमूलक तत्ववाद आत्मतत्व की सर्व-व्यापकता एवं ब्रह्म की उससे अभिन्नता प्रमाणित करके भी उसके बोध का उपाय न प्रस्तुत कर सका—सामान्य जनता में 'मैं ही ब्रह्म हूँ' की एक अहं भावना का उदय हो गया—और हृदय की समस्त अनुरागात्मक वृत्तियों को

ईश्वरार्पित करते हुए कालांतर में अनुराग के आधार नारी को भी देवार्पित करना प्रारम्भ हुआ और इसी प्रकार चित्तवृत्ति निरोधार्थ निश्चित की गयी यौगिक क्रियाएँ ही समय पाकर साध्य हो गया, फलतः काया-साधना पर ही जोर दिया जाने लगा)--तब एक नया मार्ग खोलकर बौद्ध धर्म खड़ा हुआ।

यद्यपि बौद्ध धर्म के पहले ही कर्म, ज्ञान, भक्ति और योग सभी को स्वीकार कर महर्षि व्यास ने इन सभी साधना-पद्धतियों की युगानुसार एक नयी परिभाषा कर दी—कर्म से अभिप्राय यज्ञ से है। देवता के उद्देश्य से द्रव्य त्याग ही यज्ञ है। निष्काम-बुद्धि से किए गए परमात्मा की ओर उन्मुख करनेवाले सभी कर्मों का नाम यज्ञ है। इस प्रकार कर्म की साधनात्मक महत्ता स्वीकार कर और उसका व्यापक अर्थ में प्रयोग करके महर्षि व्यास ने उसे परिष्कृत कर दिया। भगवान् गौतम बुद्ध की भाँति उसका विरोध न कर उसकी नवीन व्याख्या उन्होंने उपस्थित कर दी थी।

गीता की ज्ञान व्याख्या उपनिषदों से भिन्न है। उपनिषदों का अभीष्ट आत्मा तथा परमात्मा का बोध और उसकी तात्विक एकता का प्रतिपादन है। किन्तु गीता प्रतिपादित ज्ञान वस्तुतः आत्मैक्य का सम्पूर्ण अनुभव है। सभी प्राणियों में अपने को तथा अपने में सभी प्राणियों को देखना ही गीता के ज्ञान का रहस्य है। ऐसी दशा में आत्म परिष्कार हो जाने के बाद स्वार्थपरायणता का प्रश्न अपने आप सुलझ जाता है।

इसी प्रकार गीता में योग की भी व्याख्या है। कर्म का कौशल ही योग है। आसक्ति और फलाकांक्षा से रहित होकर कर्म सम्पादन ही कर्म-कौशल है। इसी प्रकार ध्यानयोग को ग्रहण करते हुए भी गीता उसकी नीरसता का परिष्कार कर देती है। गीता की दृष्टि में ध्यानयोग का उपयोग एकाग्रचित्त होकर सर्वत्र व्याप्त भगवान् के भजन करने में है। किन्तु इन सबको मानते हुए भी गीता में भक्ति को ही प्रधानता दी गयी। गीता में जिस भक्ति का वर्णन है, वह अनन्या भक्ति है, जिसकी समाप्ति शरणागति में होती है। भक्ति मार्ग की सर्वश्रेष्ठता का प्रथम दर्शन यहीं होता है।

इस प्रकार भारतवर्ष में साधना-पद्धतियों की उपर्युक्त धाराएँ अपनी गति से

प्रवहमान् थीं। आगे चलकर अपनी एक भिन्न संस्कृति लेकर आनेवाले मुसलमानों ने इन साधना धाराओं को अवरुद्ध कर उन्हें शिथिल कर दिया* और मुस्लिम चिन्ताधारा अपना मार्ग ढूँढने लगा। महात्मा कबीर के प्रादुर्भावकाल में साधना क्षेत्र में हिन्दुओं तथा मुसलमानों की सभी साधना धाराएँ भारतवर्ष में फैली थीं। साधना की इन विभिन्न धाराओं में से किसी एक धारा का अनुवर्तन न कर महात्मा कबीर ने इन सभी धार्मिक स्रोतों से कुछ न कुछ अंश ग्रहण कर एक स्वच्छन्द धारा प्रवाहित कर अपनी अद्भुत क्षमता का परिचय दिया। मुसलमानों के भारत में आ जाने से जो राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक और सांस्कृतिक वातावरण क्षुब्ध हो उठा था और उसमें मुसलमान शासकों की नृशंसता ने कटुता आने लगी थी, उसे दूर करने का सफल प्रयत्न कबीर ने किया, इसमें सन्देह नहीं। यही कारण है कि हमारे यहाँ महात्मा कबीर सन्त साहित्य के साथ अपनी एक विशिष्ट महत्ता रखते हैं।

---

*यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि मुसलिम संस्कृति और धर्म ने विद्वानों को अपनी ओर नहीं आकृष्ट किया था, बल्कि उससे अशिक्षित वर्ग की सामान्य जनता ही प्रभावित हुई थी।

२—प्रेममार्गी (सूफी) शाखा या प्रेम-काव्य

(क) मूलस्रोत, काल और परिस्थिति का प्रभाव—हिन्दी साहित्य के प्रेम-काव्य की रचना पर मुसलमानी संस्कृति और धर्म का गहरा प्रभाव है। अत पहले हम यह जानने का प्रयत्न करेंगे कि मुसलमानों का हमारे देश में आगमन कब हुआ और उनके धर्म का प्रचार किस प्रकार हुआ।

८ जून सन् ६३२ ई० में इस्लामी धर्म एवं शासन सम्बन्धी संस्थाओं के अध्यक्ष श्रीमुहम्मद साहब का जब देहान्त हो गया, तब समस्त अरब में अनेक लोग अपने को दूत घोषित कर यत्र-तत्र विद्रोह करने लगे। किन्तु खलीफा अबूबकर ने जो उस समय इस्लामी धर्म एवं शासन सम्बन्धी संस्थाओं के अध्यक्ष थे, सफलतापूर्वक सभी विद्रोहों को दबा दिया। इसके साथ ही उन्होंने फारस आदि प्रदेशों पर इस्लामी राज्य के विस्तार के उद्देश्य से आक्रमण भी कर दिया। उनके उत्तराधिकारी खलीफा उमर ने वहाँ इस्लामी विजय की पताका फहरायी। किन्तु नमाज पढ़ते समय एक फारसी गुलाम के हाथों जब खलीफा उमर मार डाले गए तब इस्लाम के सभी कार्यों में शिथिलता आने लगी। चारों ओर विद्रोह होने लगे और उसमान खलीफा नियुक्त किए गए। इनके बाद अली आदि उत्तराधिकारियों का समय युद्धजनित विषमताओं और अशान्ति के वातावरण में व्यतीत हुआ। इस प्रकार जब एक-एक कर मुहम्मद साहब के सारे साथी इस धरा धाम पर न रह गए और मुआविया खलीफा के पद पर था, तब उसने अपने को सर्वप्रथम बादशाह घोषित किया। इस समय जनता दो दलों में बँट गयी। एक दल तो अन्तिम सनातनी खलीफा अली का, जिसे जनता इस्लाम का अन्तिम सच्चा नायक मानती थी और दूसरा उनके विरोधी खारिजा का दल।*

---

* डा० कमलकुलश्रेष्ठ एम० ए०, डी० लिट० द्वारा प्रणीत "हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य" पृ० ६३ देखिए।

अली पुत्र हुसैन अपने को खलीफा-पद का अधिकारी घोषित कर कुफा से सहायता प्राप्तकर पद के लिए लड़े, किन्तु कुफा निवासियों ने उनकी पूरी सहायता न की। उस समय मुआविया पुत्र यजीद के साथ उनका घोर युद्ध हुआ, जो इस्लामी इतिहास में अन्तिम कर्बला युद्ध के नाम से प्रसिद्ध है। हुसैन अपने सभी साथियों के साथ मार डाले गए और यजीद ने मक्का मदीना पर भी आक्रमण कर वहाँ भी अत्याचार और अशान्ति की लहर उठा दी। इसी समय मुख्तार नामक एक व्यक्ति ने विरोधीदल संगठित कर कुफा पर अपना अधिकार जमा लिया और यजीद के साथियों को जो संख्या में लगभग तीन सौ थे, मार डाला। परिणामस्वरूप सीरिया की रहनेवाली अरबी जनता उत्तरी और दक्षिणी अरब में विभक्त हो गयी।

इस प्रकार इस्लाम धर्म की जन्मदात्री पुण्य भूमि अरब का (सातवीं शताब्दी का) ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत किया गया। उपर्युक्त ऐतिहासिक सिहावलोकन से स्पष्ट है कि उस समय जनता को अशान्त वातावरण का सामना करना पड़ा। इस विषम परिस्थिति में धर्म के नाम पर फैली हुई मार-काट और नृशंसताओं की ओर दृष्टिपात कर कुछ सुहृद विचारकों ने मुहम्मद साहब द्वारा प्रवर्तित कुरान और इस्लाम धर्म के सिद्धान्तों और उपदेशों का परिष्कृत ढंग से दर्शन किया। इस वर्ग के विचारकों को मुहम्मद साहब का जीवन और कुरान के उपदेश उदारता तथा सद्भावनाओं से परिप्लावित जान पड़े। सूफी धर्म का मूल यहीं पर इस्लाम को एक गहरा धर्म मानने में है।*

अरबवालों का साम्राज्य फारस में था और इस्लाम धर्म को फारस की जनता ने स्वीकार तो कर लिया था, किन्तु उनके साथ समानता के व्यवहार की कमी थी। फलतः फारस की जनता ने एक भारी क्रान्ति की; जिसमें आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राजवंश का परिवर्त्तन हुआ। अब राज-दरबार में फारसी प्रभाव बढ़ने लगा। अली के वंशजों ने जो अपने को मुहम्मद साहब के

* डा० कमलकुल श्रेष्ठ एम० ए०, डी० फिल० द्वारा प्रणीत 'हि० प्रे० का०' पृ० ६७ देखिए।

सच्चे-उत्तराधिकारी मानते थे, विद्रोह पर विद्रोह किया। आगे चलकर अरब और फारस की जनता में जातीय भावना का अंकुर निकलने लगा, जिसमें राष्ट्रीय एवं जातीय संघर्ष प्रस्फुटित हुआ।

परिस्थितिजन्य एक महान् आन्दोलन अब्दुल्ला बिनमैमून अलकद्दा (जिनकी मृत्यु ८७४ ई० में हुई) के नेतृत्व में हुआ। यह नेता फारस से अरब साम्राज्य को समूल विनष्ट कर डालना चाहता था। अली के पक्ष का समर्थन करते हुए उन्होंने इस आन्दोलन में शियापन्थ से बहुत बड़ी सहायता प्राप्त कर ली। जब फारस की जनता को विदित हुआ कि वह फारस से विदेशी साम्राज्य का निष्कासन कर देना चाहता है, तब इस आन्दोलन में फारसी जनता ने उनका सब प्रकार से साथ दिया। इसी समय सलमान फारसी ने मुहम्मद साहब के धार्मिक सिद्धान्तों की उदार दृष्टिकोण से नवीन व्याख्या करते हुए धार्मिक आन्दोलन प्रारम्भ किया, जिसमें इसलामी धर्म के मार्ग में जो अन्धकार छाया था, एक नवीन आलोक के प्रस्फुटित होते ही दूर हो गया। अब्दुल्लाह के राजनीतिक आन्दोलनों में सलमान का धार्मिक आन्दोलन सजीव हो गया। सलमान ईश्वर के निर्गुण रूप पर अधिक जोर देते थे। उनका कहना था कि मनुष्य के जीवन तथा निर्गुण ईश्वर के बीच प्रेम का सम्बन्ध है। ईश्वर के निर्गुण होने से यह प्रेम भी लौकिक प्रेम से सर्वथा भिन्न आध्यात्मिक प्रेम है जो आगे चलकर सूफी धर्म में रहस्यवादी प्रेम के नाम से विख्यात हुआ। इसी से सूफी धर्म अनुप्राणित हुआ। इस प्रकार अब्दुल्लाह के राजनीतिक आन्दोलन का अपने अनुकूल प्रबल वेग पाकर सलमान फारसी ने आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ होते होते निरंतर विद्रोहों और विप्लवों में पिसी जाती हुई शान्तिप्रिय जनता के मध्य सूफी धर्म की एक नवीन धारा प्रवाहित किया, जिसकी धीरे धीरे गति बढ़ती गयी और नवीं शताब्दी तक तो उसमें दृढ़ता से स्थिरता भी आ गई।

(ग) सूफी धर्म का मत और सिद्धान्त—डा० श्रीकमलकुल श्रेष्ठ ने सूफी धर्म के समस्त विकासकाल के इतिहास को चार भागों में विभक्त किया है।*

*'हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य' (पृ० १०१)—डा० कमलकुल श्रेष्ठ एम० ए०, डी० लिट०—देखिये

१—तापसी जीवन—(सातवीं से नौवीं शताब्दी ई० तक)
२—सैद्धान्तिक विकास—(दसवीं से तेरहवीं शताब्दी ई० तक)
३—सुसंगठित सम्प्रदाय—(चौदहवीं से अठारहवीं शताब्दी ई० तक)
४—पतन—(उन्नीसवीं शताब्दी ई० से आधुनिक समय तक)

उपर्युक्त चार भागों में बटे हुए सूफी धर्म के विकासकाल के साथ दार्शनिक दृष्टिकोण पर भी थोड़ा विचार कर लेना आवश्यक है।

१—तापसी जीवन—यद्यपि तापसी जीवन कुरान द्वारा स्वीकृत नहीं है, क्योंकि इस्लाम एक सामाजिक धर्म है। किन्तु इसमें प्रचलित कुछ नियम जैसे रमजान के व्रत, मदिरा का निषेध एवं तीर्थयात्रा आदि—तापसी जीवन से सम्बन्ध रखते हैं।

ऊपर लिखा जा चुका है कि राजनीतिक परिस्थितियों के महान् विप्लव के समय जब मुसलमान पारसी ने इस्लाम के नाम पर प्रचलित मार काट अशान्ति और घोर नैतिक पतन के अमानुषिक बर्बरता के मध्य पिसी जाती संशक्ति जनता को कुरान की पवित्र आयतों की ओर समुन्नत लक्ष्य की ओर ले जाने वाले प्रशस्त पथ को आलोकित करनेवाले मुहम्मद साहब के सन्देशों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण कर उसकी महत्ता पर प्रकाश डाल अपना और आकृष्ट किया, तब उन्हों ने पतनोन्मुख समाज से अलग हो, शान्ति चाहनेवाला वर्ग एकान्त में ही व्यष्टि का तापसी जीवन व्यतीत करने लगा जो सूफी धर्म की उत्पत्ति का कारण हुआ।

राजनीतिक उथल पुथल के फलस्वरूप मुहम्मद द्वारा प्रचारित इस्लाम धर्म शिया, खारिजा, सुन्निया और कादरी सम्प्रदाय में विभक्त हो गया। कादरी सम्प्रदाय में अनेक उपसम्प्रदाय हुए जिनमें एक मुतजाली नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस सम्प्रदाय के अनुयायी अपने आरम्भिक तथा वास्तविक स्वरूप में तपस्वी ही थे। वे दुनियाँ से अलग पार्थिव सम्पर्कों की प्रतिध्वनियों से तटस्थ हो ऐकान्तिक जीवन बिताते थे। आत्म निरूपण ही उनका लक्ष्य था। इसी को जीवन का वास्तविक लक्ष्य प्राप्त करने का सच्चा पथ मानते थे।

शिया सम्प्रदाय में एक वर्ग ऐसा भी था जो वह भी तापसी जीवन व्यतीत करता था और कुरान का अन्योक्तिमूलक अर्थ बताता था। मुतजाली सम्प्रदाय की बहुत सी बातें इस सम्प्रदाय की अनेक बातों से मिलती थीं। वास्तव में ये ऐकेश्वरवादी थे तथा नकारात्मक प्रणाली में अपने आराध्य का वर्णन करते थे। मग्रामरतिनग्रम्ना ने और भी सूक्ष्मता से एक विशेषता और भी स्थापित कर दी। उसने कहा—"ईश्वर एक ऐसी भावात्मक सत्ता है जिसके सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वह अवर्णनीय है।

जुअलनून के सिद्धान्तों में अद्वैतवाद के भी आन्तरिक चिन्ह मिलते हैं। परन्तु बायजीद के विचार सर्वथा अद्वैतवाद से मिलते हैं। वह "विविध रूपों में मैं ही परमेश्वर हूँ, मेरे अतिरिक्त और कोई अन्य परमेश्वर नहीं, इसलिए मेरी उपासना करो।" की घोषणा करता है।

"मैं ही मदिरा तथा मदिरा पीने वाला हूँ और पिलानेवाला साकी भी हूँ।"

बायजीद ने ही सूफी धर्म में सर्व प्रथम फना का सिद्धान्त मिलाया, जिसके अनुसार मानव-जीवन का उद्देश्य उसी परमसत्ता में समाहित हो जाना था।

उपर्युक्त विवरण के अनुसार संक्षिप्तरूप से कहा जा सकता है कि नवीं शताब्दी तक सूफी धर्म के अनुयायी तापसी जीवन व्यतीत करते थे, तथा वहीं एकान्त में ईश्वर सम्बंधी चिन्तन-मनन किया करते थे। अद्वैतवादी सूफियों के सिद्धान्तानुसार मानव-जीवन का लक्ष्य उसी परमसत्ता में सदैव के लिए विलीन हो जाना था, संसार व्यर्थ ही सर्ग की रंगभूमि है। अतः सत्य की प्राप्ति के हेतु इसका परित्याग आवश्यक है। तपस्या अथवा ऐकान्तिक चिन्तन तथा उस परमसत्ता में प्रेम करना इस लक्ष्य को प्राप्त करने का साधन-पथ है।

इस समय तक सूफी सिद्धान्त कुरान और मुहम्मद साहब के जीवन से निकला हुआ माना जाता है। मुहम्मद साहब सर्वथा सादा जीवन व्यतीत करते थे। वे विलासिता से बहुत दूर रहते थे। रात्रि में ईश्वर का चिन्तन करते और दिन में उपदेश देते। कभी-कभी वे महीनों तक व्रत रखते और रात में प्रायः बहुत कम सोया करते। उनकी कही हुई ईश्वर की प्रार्थना की परिभाषा में सूफी सन्तों ने

अपने प्रेम विह्वलतावाले तत्व खोज निकाले हैं। कुरान में जिक्र (स्मरण) और जिहाद मिलता है, इन वाक्यों का साधारणतया अर्थ है "ईश्वरीय मार्ग में प्रयत्न करना। किन्तु सूफी मार्गावलम्बी सन्तों ने अपनी पतनोन्मुख प्रवृत्तियों से लड़ना ही जिहाद है" अर्थ लगाया। कुरान का वाक्य है — जो तुम स्वयं करते हो, एकमात्र उन्हीं अच्छे कर्मों का उपदेश दो।" सूफी सन्तों ने इसी भावना को थोड़ा परिवर्तन के साथ दोहराया — आत्मनिरीक्षण कर पहले आत्मशुद्धि करलो, तब तुम्हें दूसरों को उपदेश देने का अधिकार होगा।' इन्हीं तत्वों के आधार पर सूफी अपना सिद्धान्त शास्त्रीय एवं परम्परागत मानते थे। जिसके परिणामस्वरूप सूफी धर्म अत्यन्त व्यावहारिक एवं अत्यन्त आदर्शवादी हो उठा। इसी प्रकार अब सूफी धर्म का अधिक विकास होने लगा।

सैद्धान्तिक विकास—(१०वीं से १२वीं शताब्दी ई०) इस समय के सूफी सन्तों ने तर्क एवं अनुभूति का आश्रय ग्रहण कर अपने धर्म का विश्लेषण करते हुए विचारों का स्पष्टीकरण किया। सूफी धार्मिक साहित्य में अब अनेक ग्रन्थों का प्रणयन भी होने लगा था। इन ग्रन्थों में सबसे प्राचीन पुस्तक अबू तालिब अलमक्की की 'कुतुअलकुलूब" अरबी का है। इसमें पत्र खलीफा मामू की आज्ञानुसार अरस्तू के ग्रन्थ अरबी में किन्दी* के द्वारा अनुवादित हो

---

*किन्दी अरब देश का निवासी था। उसे अरब दार्शनिक कहा जाता है। बसरा और बगदाद में उसने शिक्षा प्राप्त की थी। वह बहुत बड़ा विद्वान था, वह अनेक विषयों का ज्ञाता था। अनेक यूनानी कृतियों का उसने अरबी में अनुवाद किया, ऐसा कहा जाता है। किन्दी ने मनुष्य की स्वतन्त्रता पर बल दिया, ईश्वर की एकता तथा कल्याणरूपता पर भी वह बल देता था। कार्य कारणवाद में उसका विश्वास था। जगत् ईश्वर का कृति है, किन्तु ईश्वर और जगत् के मध्य अनेक अन्य शक्तियाँ भी हैं। ईश्वर से विश्वचेतना (नफ्स आलम) और उससे क्रमशः परिन्दे तथा मनुष्य पैदा होते हैं। चित् शक्ति के चार भेद हैं। १—ईश्वर जो सर्वथा सत् है और समग्र चेतनाओं का कारण है। २—बुद्धि ३—जीव की क्षमता और ४—क्रियाशक्ति। इस प्रकार

चुके थे*। इस समय तक भारतीय विद्वान अरब में पहुँच चुके थे और खलीफा के द्वारा उन्हें काफी सम्मान भी प्राप्त था। फलतः सूफी धर्म के सिद्धान्तों के निर्माण में ग्रीस और भारत दोनों ने सहयोग दिया।

अब तक के समस्त सूफी सिद्धान्त निर्माताओं में गज्जाली का स्थान सर्वोपरि है। अबूअलफअल शहरस्तानी का भी नाम उल्लेखनीय है। इन प्रमुख सन्तों ने उलमाओं की तीन श्रेणियाँ बनाई। १—परम्परा को मानने वाले, २—कुरान का अर्थ बतानेवाले और ३—सूफी। इनमें पहली श्रेणी के लोग मुहम्मद साहब की जीवन सम्बन्धी घटनाओं का दुनियाँ के कोने कोने में भ्रमण कर प्रचार करते थे। उनका जीवन एक आदर्श जीवन था और कुरान की व्याख्या करनेवाले उलमा कुरान का गम्भीर अध्ययन कर उसका बड़ी बारीकी से अर्थ करते। कुरान के पठन पाठन को ही ये लोग जीवन का मुख्य उद्देश्य समझते। यही भावना इनके धर्म की नींव थी। औरों की अपेक्षा जनता में इनका सम्मान अधिक था। तीसरी श्रेणी जो सूफियों का थी, वह मुहम्मद साहब की जीवनी और कुरान की कुछ आयतों (दोनों) से प्रेरणा प्राप्त कर उसी का अनुकरण एवं अनुभूति करती थी। इस वर्ग की *सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि आराध्य और आराधक के मध्य जो प्रेम का* मनोहर और कलापूर्ण सम्बन्ध पूर्ववत् सूफी सन्तों ने निश्चित किया था, वह इन सूफियों के प्रयत्न से विशुद्ध वैज्ञानिक हो गया। कल्पना की गयी कि आराधक प्रेम पथ पर चलता है और यात्रा में सफल होने पर आराध्य तक पहुँचता है। आराधक को इस यात्रा में अनेक स्थान मिलते हैं। इसी वर्गीकरण के अनुसार सूफी प्रेम तीन श्रेणियों में विभक्त हुआ। उत्तम, मध्यम और निकृष्ट। आत्मा-परमात्मा का ज्ञान प्राप्त कर जब उसमें प्रेम किया जाता है तब

किन्दी अरस्तू के सक्रिय बुद्धि तथा निष्क्रिय बुद्धि के विभाग से प्रभावित था। किन्दी का समय ८७०ई० था—("पूर्वी पश्चिमी दर्शन" पृ० २७७ ड डा०देव राज प्रणीत देखिए)

* देखिए 'दर्शन-दिग्दर्शन" पृ० १०५६—श्रीराहुल सांकृत्यायन।

वह उत्तम प्रेम कहलाता है। किन्तु जब आत्मा, परमात्मा को सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी और सर्वान्तर्यामी मानकर उससे प्रेम करती है तब वह प्रेम मध्यम कोटि में गिना जाता है। जब आत्मा को परमात्मा अपना प्रेम देता है और आत्मा, परमात्मा को एक साधारण दयावान् दाता मानती है और इसी भाव से उससे प्रेम करती है तो उसको निकृष्ट-कोटि का प्रेम माना जाता है।

तर्कजनित ज्ञान की अपेक्षा गज्जाली अनुभूति को श्रेष्ठ मानता है। तर्क द्वारा प्राप्त हुआ ज्ञान प्रत्येक दशा में अनुभूति के आधार पर प्राप्त किए गए ज्ञान से प्रायः निम्नकोटि का है। उसने घोषणा की कि परमात्मा को जानना और उसकी अनुभूति प्राप्त करना असम्भव नहीं है, क्योंकि ईश्वर की प्रकृति मानव प्रकृति से भिन्न नहीं है। मानवता स्वय परमात्मा से ही आई है, तथा सांसारिक बंधनों से छूटने पर उसी में लीन हो जायगी*। इस स्थल पर 'लीन' शब्द को भारतीय दर्शन के 'तिरोहित' शब्द का समानार्थक या पर्यायवाची समझना चाहिए। गज्जाली परमात्मा को सर्वव्यापी मानता हुआ प्रकृति के पीछे उसके दर्शन करता है और हम इसका निर्देश करता है कि प्रकृति का सञ्चालक वही है।

सूफी सिद्धान्तों के विकास की एक नवीन अवस्था इब्नसीना में मिलती है। उसके अनुसार परमसत्ता का स्वरूप शाश्वत और सौन्दर्य भरा है। आत्माभिव्यक्ति उसकी विशिष्टता तथा प्रकृति है। वह अपना स्वरूप सृष्टि में प्रतिबिम्बित कर देखती है और आत्माभिव्यक्ति ही उसका प्रेम है, जो समस्त विश्व में व्याप्त है। प्रेम सौन्दर्य का आस्वादन है तथा सौन्दर्यपूर्ण होने के कारण प्रेम भी पूर्ण है। प्रेम विश्व की जीवनी शक्ति है। यह प्राणियों को मूलस्रोत की ओर उन्मुख करता है जो कि पूर्ण है तथा जिससे वे सृष्टि सर्जना में अलग हो गए हैं। प्रेम के द्वारा ही मानव आत्मा परमात्मा से एकत्व की अनुभूति करती है।

इब्न अरबी के विचारों में प्रकृति और मनुष्य दोनों ही उस परमसत्ता के

*हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य पृ० ११०—डा० कमलकुल श्रेष्ठ एम ए, डी फिल०

प्रयत्न स्वरूप हैं। सृष्टि के कण कण में वह परमसत्ता आभासित होती है। मनुष्य परमात्मा का एक स्वरूप है और परमात्मा मनुष्य की आत्मा है। विश्व के समस्त धर्म उसी परम सत्य की ओर उन्मुख करते हैं। अतः किसी से द्वेष नहीं करना चाहिए। इस युग के सभी सूफी इसी सिद्धान्त को मानते हैं।

अब्दुल करीम इब्नजीली का मत था कि विश्व के समस्त धर्म तथा सम्प्रदाय उसी परमसत्ता का विश्लेषण तथा चिन्तन करते हैं और उसके किसी न किसी पक्ष का ही अभिव्यंजना करते हैं। विभिन्न धर्मों तथा सम्प्रदायों में नाम तथा विशेषणों का मात्र अन्तर है। अब्दुलकरीम इब्नजीली के इस उदार और व्यापक दृष्टिकोण से स्पष्ट है कि वह हिन्दू धर्म से पूर्ण परिचित था।

उपर्युक्त इन शास्त्र निर्माताओं के अलावा कुछ सूफी कवि भी धर्म प्रचार कार्य में बहुत बड़ा सहयोग देने लगे थे। इन कवियों का योग पाकर सूफी धर्म लोकप्रिय होकर खूब पनपा। जलालुद्दीनरूमी की मसनवी का इन प्रचार साधनाओं में बड़े सम्मान के साथ नाम लिया जा सकता है। इसी प्रकार सादी, रबिया और खय्याम की कविताएँ सूफी धर्म को लोकप्रिय बनाने में बहुत बड़ा महत्त्व रखती हैं। अब यहाँ से सूफी धर्म एक नियमित सम्प्रदाय के रूप में स्थित हो जाता है। इस समय में इसको एक और बड़ा आधार प्राप्त हो जाता है, वह है राज्याश्रय।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवरणों से पता चलेगा कि सूफी धर्म सामयिक परिस्थितियों की प्रतिक्रिया से उद्भूत हुआ था और राजनीतिक विप्लवों से ऊबी जनता का इस उदार दृष्टिकोणवाले धर्म की ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक था। क्योंकि इस्लामधर्म और शासन सम्बन्धी संस्थाओं के अध्यक्षों से जनता का विश्वास हट चला था, अतः इस्लाम धर्म के दैनिक नवीन व्याख्या करने वाले इस सम्प्रदाय के प्रति जनता के हृदय में श्रद्धा भावना जागृत हो गई। यह स्मरण रहे कि इस धर्म में यहाँ से गुरु परम्परा भी चल पड़ी, जिससे अनेक सम्प्रदायों का गुरुओं के नाम पर निर्माण होने लगा।

सुसंगठित सम्प्रदाय—(१२वीं से १८वीं शताब्दी ई०)—यहाँ तक

सैद्धान्तिक विकास पर विचार किया गया। अब सुसंगठित सम्प्रदाय पर भी थोड़ा विचार कर लेना आवश्यक है। सूफी सन्त मुहम्मद साहब को ही अपने धर्म का आदि गुरु मानते हैं। मुहम्मद साहब से अली ने दीक्षा ग्रहण की और अली के चार मुरीद हुए जिनके नाम थे—कामिल, हसन, हुसैन और ख्वाजहसनबसरी। अन्तिम ख्वाजहसनबसरी के दो शिष्य हुए—ख्वाजहबीबअजमी और ख्वाज अब्दुलवाहिद। आगे चलकर ख्वाजहबीबअजमी के भी दो शिष्य हुए—ख्वाजतफूर और ख्वाजदाऊद। ख्वाजतफूर से तफूरी सम्प्रदाय चला। ख्वाज मारूफ खर्खी ख्वाजदाऊद के शिष्य हुए। जिनके नाम से खर्खी सम्प्रदाय चला। आगे चलकर ख्वाजसिर्रीसिक्ती खर्खी के शिष्य हुए जिन्होंने सिक्ती सम्प्रदाय चलाया। जुनैद ने उन्हें अपना मुर्शिद बनाया, जिससे जुनैदी सम्प्रदाय चला। उनके भी दो मुरीद हुए—हजरत ममसदीन एवं शेख अबूबकर। हजरत ममसदीन के दो मुरीद हुए—शेखअबूअली और ख्वाजअहमद। शेखअबूअली के शिष्य शेख अबू इशाक गजरूनी हुए उनसे गजरूनी सम्प्रदाय चला।

ख्वाजअहमद हजरत ममसदीन के शिष्य थे, जिनके मुरीद हुए—शेख अमौइया। शेखअमौइया के मुरीद थे—शेखनजीबुद्दीन।

इन सम्प्रदायों के अतिरिक्त 'नक्शबन्दी' नामक एक और सम्प्रदाय है, जो अली से अपना सम्बन्ध न जोड़कर मुहम्मद साहब के दूसरे शिष्य अबूबकर से जोड़ता है। इस सम्प्रदाय के गुरु परम्परा की तालिका निम्न प्रकार है :—

मुहम्मद—अबूबकर—सलमानफारसी—इमाम कासिम—इमाम जाफर—बयाजीद बुस्तमी—शेखअबुलहसन—शेखअबुलकासिम—ख्वाजअबुलअली ख्वाज युसुफ—ख्वाजअब्दुलखालिक—ख्वाजआरिफ—ख्वाजमहमूद—ख्वाजअली—ख्वाज मुहम्मदबाबा—अमीरकलाल—ख्वाजबहाउद्दीन नक्शबन्द।

उपर्युक्त विवरण में यद्यपि विभिन्न सम्प्रदायों का नाम लिया गया है, किन्तु सिद्धान्ततः इनमें कोई विशेष अन्तर नहीं है। इनमें गुरु परम्पराओं के नाम पर ही नाम मात्र का अन्तर है। ये सन्त अपनी गुरु परम्परा को कट्टरता से रखते थे। इस्लामधर्मानुयायी प्रदेशों में ये सम्प्रदाय व्यष्टि रूप से सूफी धर्म का प्रचार करते थे। ये लोग अपने धर्म का प्रचार करते हुए उत्तर पश्चिम में सिंध

तक पहुँचे और पूर्व में भारत तक आए। इन्हीं सूफियों द्वारा भारत में इस्लाम का प्रचार हुआ। इधर हिन्दू धर्म अपने दृढ़ दार्शनिक आधारों पर पुष्ट था। तलवार के द्वारा विश्वास नहीं जमता, धार्मिक कट्टरता की तो बात ही दूसरी है। *अपने धर्म के प्रचारार्थ इन सूफी सन्तों ने प्राणायाम आदि योग सम्बन्धी* कितनी ही बातों की विशेष जानकारी प्राप्त की।

पतन—(१८वीं शताब्दी ई० से वर्त्तमान् काल तक)—सूफी धर्म के पतन पर भी थोड़ा विचार कर लेना आवश्यक होगा। अपने अतिउन्नतकाल में इस धर्म में एक करामाती प्रवृत्ति भी पायी जाती है। जिसमें बाद का प्रत्येक सन्त करामाती होने लगा। उसके शिष्य जनता में अपने गुरु की धाक जमाने के लिए उसकी करामातों का अति अतिरंजना के साथ प्रचार करते थे। जनता में सरल विश्वास से भरे कितने लोग इन करामातों को सत्य मानकर प्रभावित हो जाते थे। परिणाम यह हुआ कि हिन्दू जनता में भी सूफी पीरों के प्रति श्रद्धा और उन्हें पूजने की प्रवृत्ति फैलने लगी। यही पीरत्व आगे चलकर सूफी धर्म के पतन का कारण हुआ।

भारत में प्रचार—भारत में सूफी धर्म की स्वतन्त्र उत्पत्ति नहीं हुई, बल्कि सूफी दरवेश ही इस्लामी प्रान्तों से यहाँ ले आए। यों तो मुसलमानों का आगमन सबसे पहले भारत में अरबों के आक्रमण से होता है, जो सन् १५ हिजरी (सन् ६३६ ई०) में बहरैन के शासक की आज्ञा से थाना नामक बन्दर स्थान से हुआ था। कुछ दिनों बाद भड़ौच, देवल और ठट्ठा भी मुसलमान आक्रमण के लक्ष्य बने थे, किन्तु उनका सम्यक् रूप से सम्पर्क ईसा की बारहवीं शताब्दी से होता है। कौन सूफी प्रथम भारत आया, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। क्योंकि इसका कोई प्रामाणिक विवरण नहीं मिलता। आठ सूफी दरवेशों का बारहवीं शताब्दी तक आने का विवरण मिलता है, जिनके नाम हैं—शेखइस्माइल, २—सैयदनथरशाह, ३—शाहमुलतान रूमी, ४—अब्दुल्लाह, ५—दातागंजबख्श, ६—नौरुद्दीन, ७—बाबा आदिमशाही, और आठवें थे—मुहम्मदअली।

इन दरवेशों के भारत आने के पूर्व भी नवीं शताब्दी के आसपास तबरुबी

(नवीं शताब्दी ई०) और बेरुनी (दसवीं शताब्दी ई०) के यात्रा विवरणों से पता चलता है कि बिना किसी राजनीतिक विप्लव के बहुत शान्तिपूर्ण ढंग से यहाँ इस्लाम के प्रभाव बढ़ रहे थे। इस प्रकार हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियों को एक दूसरे के सम्बन्ध की बातें जानने का अवसर मिलता था।* अरबों और हिन्दुओं में, जिनमें बौद्ध धर्म भी सम्मिलित था, धार्मिक शास्त्रार्थ हुआ करते थे और अपने अपने धर्म की श्रेष्ठता के लिए प्रतियोगिताएँ हुआ करती थीं। ये घटनाएँ प्रसिद्ध हैं।

अरब और भारत के इस प्राचीन संबंध से यह कल्पना की जा सकती है कि वेदान्त की विचारधारा अरबी में अवश्य ही रूपान्तरित हुई होगी, जिससे सूफी धर्म ने अपने निर्माण में वेदान्त की चिन्तन शैली की सहायता अवश्य ली होगी। क्योंकि फारसी और अरबी के प्राचीन साहित्य में "कलेला दमना" नामक एक पुस्तक है जो बैरुनी के अनुसार संस्कृत "पंचतंत्र" का अनुवाद है। इस पुस्तक का अनुवाद फारसी में हिजरी द्वितीय शताब्दी के पूर्व ही हो चुका था। बाद में इसका अनुवाद अरबी भाषा में भी हुआ। "पंचतंत्र" पुस्तक का लेखक वेदपा पंडित कहा जाता है। प्रोफेसर जखाऊ ने अपनी पुस्तक 'इण्डिया' की भूमिका में इस वेदपा का नाम वेदव्यास के अर्थ में लिया है; जो वेदान्त के आचार्य हैं। वेदपा चाहे वेदव्यास हो, या न हो, परन्तु यदि 'पंचतंत्र' का प्रभाव इस्लामी संस्कृति पर पड़ सकता है, तो वेदान्त (उत्तर मीमांसा) का प्रभाव तो बहुत पहले से ही इस्लामी संस्कृति पर पड़ सकता था। आगे चलकर जब सूफी मत लेकर सन्तों ने भारत में आगमन किया, तब तो वह यहाँ की वेदान्त सम्बन्धी विचारधारा से विशेष प्रभावित हुई होगी।

ऊपर लिखा जा चुका है कि बारहवीं शताब्दी तक आठ सूफी दरवेशों का भारत आना पाया जाता है, यदि उनके भारत आने और प्रचार कार्यों पर विहंगम दृष्टि डाल ली जाय तो अप्रासंगिक न होगा।

---

* "अरब और भारत के संबंध" मौलाना सैयद सुलेमान नदवी पृ० १६२-३ देखिए।

१—शेख इस्माइल—ये भारत में १००५ ई० के आस पास आए और लाहौर में बस गए। ये बड़े प्रभावशाली दरवेश थे, जिसके कारण ये अपने निकट आनेवालों को अपने मजहब के अन्दर अवश्य ले लेते थे।

२—सैयद नथरशाह—ये त्रिचनापली में आकर बसे। इनका जीवन-काल ६६६ से १०३६ ई० तक माना जाता है खुत्तनों की इस्लामी जाति का कथन है कि इनके साथियों के और इनके द्वारा ही वह मुस्लमान बनी।

३—शाह सुलतान रूमी—इन्होंने एक कोचराजा को, जो बंगाल का रहनेवाला था, मुसलमान बनाया।

४—अब्दुल्लाह—ये १०६५ ई० के आसपास गुजरात में आए और इन्होंने कम्भ के निकट इस्लाम धर्म का प्रचार किया। इनके द्वारा बने मुसलमान बोहरा कहलाते हैं।

५—दातागजबख्श—इनकी गणना बहुत बड़े दरवेशों में की जाती है। ये भी लाहौर में आकर बसे थे। इन्होंने "कश्फअल महबूब" नामक एक महान् ग्रन्थ की रचना की थी। इनकी मृत्यु १०७२ ई० में हुई थी।

६—नूरुद्दीन—ये बारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में गुजरात आए और कौन्नी, खर्वा तथा कोरी जाति के हिन्दुओं को इन्होंने मुसलमान बनाया। ये बड़े ही दक्ष प्रचारक थे।

७—बाबा आदिमशहीद—ये बंगाल में बल्लालसेन के राज्य-काल में आए।

८—मुहम्मदअल—ग्यारहवीं शताब्दी ई० के समाप्त होते होते ये गुजरात आए और इन्होंने अधिक संख्या में हिन्दुओं को मुसलमान बनाया।

इस प्रकार यहाँ पर सूफी दरवेशों के भारत आगमन का संक्षिप्त विवरण दिया गया। ये सूफी दरवेश किसी न किसी सम्प्रदाय से अवश्य सम्बद्ध होते थे। इन सम्प्रदायों का भी संक्षिप्त विवरण दे देना आवश्यक होगा। भारत में आनेवाले, मुख्य सम्प्रदायों के नाम हैं—१—चिश्ती सम्प्रदाय, २—सुहरावर्दी सम्प्रदाय, ३—कादिरी सम्प्रदाय, ४—नक्शबन्दी सम्प्रदाय, ५—जुनैदी

सम्प्रदाय और ६—शत्तारी सम्प्रदाय।

१—चिश्ती सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय के आदि प्रवर्त्तक ख्वाजा अब्दुल्लाह चिश्ती (जिनकी मृत्यु सन् ६६६ ई० में हुई थी), थे। यह सम्प्रदाय भारत में सीस्तान के ख्वाजामुईनुद्दीन चिश्ती (सन् ११४२-१२०६) के द्वारा आया। सन् ११६२ ई० में भारत में इसका प्रचार हुआ। ख्वाजामुईनुद्दीन चिश्ती भ्रमण करने के बड़े प्रेमी थे। उन्होंने खुरासान, नैशापुर आदि स्थानों में भ्रमण करते हुए बड़े-बड़े सतों का समागम प्राप्त किया और दीर्घकाल तक ख्वाजाउसमान चिश्ती हारुनी के निकट रहे और उनसे प्रेरणाएँ लेते रहे। इन्होंने उनके सिद्धान्तों की अनुभूति, निकट (सम्पर्क) में आकर प्राप्त की। इन्होंने मक्का और मदीना की तीर्थयात्रा करते हुए, शेखशिहाबुद्दीन सुहरावर्दी तथा शेखअब्दुलकादिर जीलानी से भी सत्संग किया और उनसे शिक्षा प्राप्तकर अपने धार्मिक सिद्धान्तों में ये प्रवीण हुए। जब सन् ११६२ ई० में शहाबुद्दीन गोरी ने भारत पर चढ़ाई की तो उसके साथ ये भी भारत आए। इन्होंने ११६५ ई० में अजमेर की यात्रा की और वहाँ अपना प्रमुख केन्द्र बनाया। इनका अजमेर में ही सन् १२३६ ई० में ६३ वर्ष की उम्र में देहान्त हुआ। इन्हीं के वंश में वर्त्तमान् सूफी विद्वान् ख्वाजाहसन निजामी हैं, जिन्होंने अनेक उत्कृष्ट ग्रन्थों का प्रणयन किया। इन्होंने कुरान का हिन्दी में अनुवाद भी कराया है। यह सम्प्रदाय भारत में पनपनेवाले सूफी सम्प्रदायों में सबसे प्राचीन है। इस सम्प्रदाय को माननेवालों की, अन्य सम्प्रदायों के अनुयायियों से संख्या अधिक है। अधिक क्या कहा जाय इसी सम्प्रदाय का विशेष प्रभाव मुगल सम्राटों पर भी पड़ सका। कहा जाता है, इसी सम्प्रदाय के अनुयायी शेखसलीम चिश्ती के प्रभाव से अकबर को पुत्र प्राप्त हुआ था, जिसका नाम संत नाम पर सलीम रखा गया।

२—सुहरावर्दी सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय की सबसे बड़ी विशेषता है, कि इसने सूफी सिद्धान्तों के प्रचार करने के निमित्त प्रतिभा सम्पन्न अनेक सूफी सन्तों को सत्कारित किया। सन् ११६६ से १२६१ ई० की अवधि में सर्वप्रथम इस सम्प्रदाय का प्रचार सैय्यद जलालुद्दीन सुर्खपोश ने किया। इनका जन्म स्थान

बुखारा था और स्थायी रूप से ये सिन्ध मे रहे। यद्यपि इन्होंने भारत के अनेक स्थानों मे अपने धर्म का प्रचार किया, किन्तु गुजरात, सिन्ध और पजाब मे इनके केन्द्र विशेष रूप से स्थापित हुए। इनकी परम्परा मे अनेक प्रभावशाली सन्त हुए। इनके पौत्र जलालइब्नअहमदकबीर मखदूम इजहानियाँ के नाम से प्रख्यात हुए। कहा जाता है, इन्होंने मक्का की ३६ बार यात्रा की थी। मखदूमजहानियाँ के पौत्र आबूमुहम्मदअब्दुल्ला ने सारे गुजरात मे अपने धर्म का प्रचार किया। इनके पुत्र सैयद मुहम्मद शाह आलम, जिनकी मृत्यु सन् १४७५ ई० मानी जाती है, इनसे भी अधिक प्रसिद्ध हुए। इनकी समाधि अहमदाबाद के निकट रसूलाबाद म है।

पूर्व मे बिहार तथा बगाल के प्रान्तों मे भी इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तो का प्रचार हुआ। इस सम्प्रदाय के सन्तो की विशेषताएँ पूर्ववर्त्ती स्थानों के समाधि लेखों मे बड़ी श्रद्धा भावना से वर्णित हैं। इसकी बड़ी विशेषता यह थी कि इस सम्प्रदाय ने अपने धर्म मे बड़े-बड़े राजाओं तक को दीक्षित किया। बगाल के राजा कस के पुत्र जटमल, जो बाद मे 'जादू जलालुद्दीन' के नाम से प्रसिद्ध हुए, धर्म-परिवर्त्तन के लिए प्रसिद्ध हैं। हैदराबाद का वर्तमान् राजवश भी इसी सम्प्रदाय की परम्परा मे है। अत. कहना न होगा कि इस सम्प्रदाय का महत्त्व जन-साधारण से लेकर बडे बड़े राजाओं तक रहा। इस सम्प्रदाय के सन्त राजगुरु के सम्मान से गौरवान्वित हुए।

३—**कादिरी सम्प्रदाय**—इस सम्प्रदाय के जन्मदाता बगदाद के शेख अब्दुलकादिर जीलानी थे। इनका कार्यकाल सन् १०७८ से ११६६ ई० तक माना जाता है। इनके उच्चकोटि के व्यक्तित्व, तेजस्वी स्वर तथा सात्विक जीवन के प्रभाव से इनके सम्प्रदाय को बड़ी लोकप्रियता प्राप्त हुई। इनके सम्प्रदाय की सबसे बड़ी विशेषता उत्कट प्रेमावेश तथा भावुकता थी; जिसकी वजह से इस्लामी धर्म के प्रचार मे बड़ी सफलता प्राप्त हुई। सूफी-सन्तो में अब्दुलकादिर जीलानी अपने भावोन्मेष के लिए प्रसिद्ध हैं। इस सम्प्रदाय का हमारे यहाँ प्रवेश सन् १४८२ ई० मे अब्दुलकादिर जीलानी के वशज सैयदबदगीमुहम्मद गौस द्वारा सिन्ध से आरम्भ हुआ। गौस ने सिन्ध मे ही अपना निवास-स्थान

बनाया। वहीं सन् १५१७ ई० में गौस का देहान्त हो गया। * इस सम्प्रदाय के सन्तों का भारत भरम स्वागत हुआ। क्योंकि उनकी भावुकता देश की भक्ति परम्परा के अधिक समीप पहुँच कर जन रुचिको अपनी ओर विशेष आकृष्ट करने लगी। काश्मीर इनसे विशेष प्रभावित रहा। प्रसिद्ध सूफी कवि गन्हाली इसी सम्प्रदाय मे हुए थे।

४—नक्शबन्दी सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय के आदि प्रवर्तक तुर्किस्तान के ख्वाजा बहाउद्दीन नक्शबन्द थे, जिनका मृत्यु सन् १३८६ ई० म हुई। हमारे यहाँ भारत मे इस सम्प्रदाय का प्रचार ख्वाजामुहम्मदबाकीबिल्लाह बेरग द्वारा हुआ। इनकी मृत्यु सन् १६०३ ई० मे हुई। कुछ लोगों का कथन है कि इस सम्प्रदाय का भारत मे प्रचार शेखअहमदफारुकी सरहिन्दी के द्वारा हुआ। सरहिन्दी की मृत्यु १६२५ ई० मे हुई। इस सम्प्रदाय को भारत में कोई विशेष सफलता न प्राप्त हो सकी, क्योंकि इस सम्प्रदाय की बुद्धिवादी क्लिष्टता तथा सम्प्रदायवादी दृष्टिकोण की जटिलता प्रचार मे बाधक हुई। यह अपने क्लिष्ट तर्कजाल म केवल वर्ग विशेष मे ही पनपा। साधारण जनता से यह सम्प्रदाय अग्राह्य ही रह गया। इस प्रकार भारत मे आनेवाले सम्प्रदायों म सबसे दुर्बल और प्रभाव हीन यही सम्प्रदाय था।

५—जुनैदी सम्प्रदाय—अभी तक इस सम्प्रदाय का क्रमबद्ध विवरण नहीं प्राप्त हो सका है। भारत में सर्वप्रथम आनेवाला जुनैदी दरवेश दातागंज बख्श था, चौदहवीं शताब्दी मे बाबाइशाक मगरबी का नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने खट्टू में अपना केन्द्र बनाया था। इनका उत्तराधिकारी शेखनसीरुद्दीन अहमद था जिसने गुजरात को अपना कार्य क्षेत्र बनाया। इसके पश्चात् बहाउद्दीन ने सरहिन्द म इसका प्रचार किया।

---

* अन्य मत से यह सम्प्रदाय १३८८ ई० में अब्दुलकरीमबिनइब्राहीम अलजीली के द्वारा भारत आया। इसके पश्चात् शेखसैयदनियामतुल्ला नामक दरवेश भारत आया। देखिए—'हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य"—डा० श्रीकमल-कुल श्रेष्ठ एम० ए०, डी० लिट०।

६—शत्तारी सम्प्रदाय—चौदहवीं शताब्दी के अन्तिम समय में अब्दुल्लाह शत्तारी नामक सूफी दरवेश ने शत्तारी सम्प्रदाय की संस्थापना की। इनके शिष्यों का नाम तो प्रकाश में नहीं आया, किन्तु शत्तारी ने इस सम्प्रदाय में कुछ नवीन प्रथाएँ चलाईं। भारतीय जनता ने उनका विश्वास न किया। इस सम्प्रदाय में मुहम्मद गौस नाम के एक दरवेश और थे, जिनके सम्बन्ध में कहा जाता है कि सम्राट् हुमायूँ तक को इन्होंने दीक्षा दी। इस सम्प्रदाय में कुछ दरवेश और भी थे जिनके नाम हैं—बहाउद्दीन जौनपुरी, मीरसैय्यदअली कौसाम और शाहपीर।

उपर्युक्त सम्प्रदायों के अतिरिक्त "मदारी" नामक एक सम्प्रदाय और भी है जिसे भारत में शाहमदार बदीउद्दीन नामक सन्त को प्रचारित करने का श्रेय है। इस सम्प्रदाय का दूसरा नाम "उवैसी" भी था। इसका विशेष प्रचार उत्तरी भारत तथा उत्तर प्रदेश में हुआ। अब्दुलकुद्दूस गगुई तथा शाहमदारी इसमें दीक्षा लिए थे।

(ग) दार्शनिक दृष्टिकोण—उपर्युक्त सभी सम्प्रदाय प्रायः तुर्किस्तान, इराक, इरान और अफगानिस्तान से विविध सन्तों के द्वारा भारत में फैले। इन सम्प्रदायों का पन्द्रहवीं शताब्दी तक स्वतन्त्र विकास तो होता रहा, किन्तु आगे चलकर ये उपसम्प्रदायों में बँट गए। इनमें तात्त्विक-दृष्टि से तो कोई अन्तर नहीं था, यदि अन्तर था भी तो केवल गुरु परम्परा का ही। तात्त्विक-दृष्टि से ये समस्त सूफी सन्त इस्लाम का ही प्रचार कर रहे थे। मुसलमानों के शासन-काल में हिन्दू जनता ने तलवार के आगे मस्तक तो झुका दिया था, किन्तु विदेशी शासन से वह शक्तिचित्त तो रहती ही थी। उसका विश्वास न जमता था। यही काम सूफियों द्वारा हुआ। क्योंकि ये सूफी सन्त अपने धार्मिक जीवन में अत्यन्त सरल और सहिष्णु थे। मुसलमान बादशाहों द्वारा धर्म प्रचार उतना सम्भव न था जितना सूफी सन्तों के लिए सम्भव था। क्योंकि उस समय का राजनीतिक वातावरण अत्यन्त क्षुब्ध था। सुलतान की मृत्यु होते ही उपद्रव मच जाता था, जिसके कारण प्रत्येक शासक को कुछ समय तक तो शान्ति-स्थापन तथा अपने पद और प्राण की रक्षा में ही चिन्तित रहना पड़ता था। अधिक क्या कहा जाय,

आरम्भिक अफ़गान बादशाहों को तो शान्ति पूर्वक राज्य करने का अवसर ही न मिला। यद्यपि साधारण ढंग से उन्होंने धर्म प्रचार की भी व्यवस्था कर रखी थी, किन्तु उस व्यवस्था में बल न था। धर्म प्रचार-कार्य में तो सूफ़ी दरवेशों ने ही विशेष सफलता पायी। क्योंकि एक तो इन दरवेशों में धर्म-प्रचार की बड़ी लगन थी और दूसरे इन दरवेशों में बड़े-बड़े लोग भी थे, जिनका प्रभाव पड़े बिना न रहता। सैय्यदअशरफ जहाँगीर दरवेश तो इस्फहान का बादशाह था, उसने सूफ़ी धर्म के लिए सिंहासन तक त्याग दिया था। ये दरवेश बड़े विद्वान् थे, जिनसे इनके कार्य जादू की भाँति आश्चर्यपूर्ण होते थे। इनका अध्ययन तगड़ा तो होता ही था, ये अनेक गुरुओं के निकट जा-जाकर ज्ञान प्राप्त करने में बड़ा समय भी देते थे। कहना न होगा कि इस मार्ग पर वही आता भी था जो सच्चा निष्ठानुरागी होता था। सूफ़ी दरवेशों के साथ उनकी लगी हुई करामाती आख्यायिकाएँ प्रसिद्ध हैं जिनसे जनता बहुत प्रभावित हुआ करती थी। संक्षेप में कहा जा सकता है कि सूफ़ी दरवेशों ने अपने शान्त और अहिंसापूर्ण प्रभाव से इस्लामी संस्कृति और धर्म को जितना व्यापक बनाया—जितनी दूर तक प्रचारित किया—उतना व्यापक मुसलमान बादशाहों की तलवारें उसे न बना सकीं। दूसरे धर्मानुयायी जनवर्ग को अपने व्यक्तिगत सात्विक प्रभाव में लाकर इन सूफ़ी दरवेशों ने इस्लाम के अनुयायियों की संख्या में अपरिमित अभिवृद्धि की। क्योंकि यह उनका प्रेम की विजय थी, जिसमें आत्मीयता और विश्वास का अपार चमत्कार होता है। इन सूफ़ी दरवेशों की विशेष सफलता का एक कारण और भी था, जिसे हम सामाजिक समता और एकता कह सकते हैं। भारतीय समाज की निम्नस्तर की जातियों को भी (यदि वे धर्म परिवर्त्तन कर मुसलमान हो जायें, तो वे भी बहुत बड़े सम्मान और श्रद्धा के पात्र समझे जाते थे) आदर मिलता था। यही नहीं, पूर्व संस्कारों के प्रति सहिष्णु भाव के साथ उन्हें अन्त र्जातीय विवाह में पूर्ण स्वतन्त्रता और सुविधा भी दी जाती थी और अपने नवीन स्वीकृत धर्म पर पूर्ण अधिकार भी उन्हें दिए जाते थे। उनका इतना ध्यान रखा जाता था कि इस्लाम के न्यायाधीश भी उन्हें 'शेख', 'मलिक, और 'खलीफा' आदि की उपाधियों से विभूषित करते थे। अभ्युदय और घृणित

जातिया के लाखों व्यक्ति सूफी सन्तों के चमत्कारों और सात्विक जीवन की सभी सुविधाओं के प्रलोभन में इस्लाम धर्म के अन्तर्गत सूफी सम्प्रदाय म दीक्षित हुए। इस प्रकार सूफी धर्म के प्रचार म दरवेशों ने तीन शताब्दियों में ही इतनी प्रगति लायी कि सूफी धर्म क अन्तर्गत चौदह सम्प्रदायों की अभिवृद्धि हुइ। इनका विशेष विवरण आइने अकबरी म मिलता है।

इतना होते हुए भी हमारे देश म पढ़ा लिखी और अभिजात वर्ग की जनता म सूफी सिद्धान्त का कोई विशेष प्रभाव न पड़ सका। दाराशिकोह तथा दाता गंजबक्श जो बहुत बड़े सिद्धान्त निर्माता माने जाते हैं, कोइ नवीन खोज न उपस्थित कर सके। उन्होंने पुराने लेखकों तथा कवियों के ही विचारों का पुनरावृत्ति की। वास्तव में सूफी तापसी जीवन में कुछ-कुछ योग प्रवृत्तियाँ दिखायी पड़ती हैं। शेखबुरहान तो योगी ही कहलाते थे। अत. कालान्तर म सूफी धर्म गोरख पथी धर्म से मिला हुआ स्पष्ट दिखाइ पड़ने लगा। गोरखपथ म योग ही प्रधान वस्तु था और भारत म उसी प्रकार गोरखपथी सन्तो म भी करामाती कहानियाँ प्रचलित थीं, जिस प्रकार फारस में सूफियों के साथ। साधारण जनता गोरखपथिया और सूफियों की इन करामाती कहानियों से बहुत प्रभावित हुआ करता थी। विदेश से सूफियों के साथ आने के कारण ये प्रवृत्तियाँ और भी बढ़ी। भारत में जिस प्रकार सरल जनता को प्रभावित करने के लिए यहाँ के गोरखपथी योगी समस्त विश्व को इसी मनुष्य शरीर के भीतर देखने को कहते थे* उसी प्रकार सूफी भी यही कहा करते थे। "सुनु चेलाजस सब ससारू। ओही भाँति तुम क्या विचारू। और भी, "जैसी अहै पिरथमी सगरी। तैसी जानहु काया नगरी"।* इस प्रकार सूफी धर्म और भारतीय धर्म में कुछ बातों की समानता थी, जैसे धार्मिक सहिष्णुता के साथ साथ अपने अपने धर्म के प्रचार म रहस्यवादी प्रणयमूलाभक्ति तथा गुरु-परम्पराओं और उपसम्प्रदाय की स्थापना आदि में काफी साम्य था।

अद्वैतवादा-दर्शन का, शकराचार्य ने सूफी धर्म के बहुत पहले ही प्रतिपादन

* देखिए गोरखबानी (१६६६) पृ० १२५। *नापसी-ग्रन्थावली देखिए।

किया था, जिसका भारत के कोने-कोने तक प्रभाव जम चुका था। आचार्य शकर ने जिन ब्रह्मसूत्र का भाष्य लिखा, उसके अनेक भाष्य लिखे गए। वास्तव में आचार्य शकर के ही अद्वैतवाद के आधार पर द्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत और शुद्धाद्वैत अनेक वाद प्रचलित हुए। इन सभी वादों का मूलस्रोत अद्वैत वाद ही था, जो तात्त्विक दृष्टि से कुछ भिन्न होते हुए भी इन सभी वादों को मार्ग दिखारहा था सर्व साधारण जनता में ऐकेश्वरवाद और अद्वैतवाद में कोई विशेष अन्तर न समझ पड़ा। मध्ययुग में यह ऐकेश्वरवाद भी हमें हिन्दू धर्म म मिलता है।

मुहम्मद साहब के समय में अरब में जो धार्मिक विप्लव हो चुका था, उसका वर्णन हम पहले कर चुके हैं। अत उसी आधार पर कहा जा सकता है कि वहाँ की जनता अध्यात्म की प्रेमी न थी। जनता का ध्यान तत्त्वचिन्तन से अधिक युद्ध पर रहता था। शास्त्र से अधिक महत्त्व वहाँ की जनता शस्त्र को देती थी। "मुहम्मद साहब के निधन के उपरान्त मुसलिम समुदाय म 'ईमान', 'इसलाम' एव 'दीन' के सबध में जो प्रश्न उठे, उनका समुचित समाधान सहज न था। इसलाम को 'तौहीद' का गर्व था। मुसलमान समझते थे कि तौहीद का सारा श्रेय मुहम्मद साहब को ही है। परन्तु मनुष्य मननशील प्राणी है। उसकी बुद्धि सहसा शान्त नहीं होती। जिज्ञासा के उपशमन के लिए उसे छानबीन करनी ही पड़ती है। अत मनीषियों ने देखा कि इसलाम का अल्लाह एक परमदेवता के किसी प्रकार आगे नहीं बढ़ सकता, इसके अतिरिक्त अन्य देवता सेव्य नहीं हैं, सो तो ठीक है, पर अन्य सत्ताएँ तो हैं ? फरिश्तों की बात अभी अलग रखिए। स्वय मुहम्मद साहब की वास्तविक सत्ता क्या है ? इसान और अल्लाह से उनका क्या सबध है ? अब ऐसे ऐसे विकट परन्तु सहज और सच्चे प्रश्नों का समाधान तौहीद के प्रतिपादन के लिए अनिवार्य था। भारतीय ऋषियों के सम्मुख जिस प्रकार आत्मा और ब्रह्म के समन्वय का प्रश्न था, उसी प्रकार सूफियों के सामने अल्लाह और मुहम्मद के सबध का। निदान उसमें भी चिन्तन का प्रवेश हो ही गया।"*

*तसव्वुफ अथवा सूफीमत पृ० १२६—श्रीचन्द्रबली पाण्डेय।

क़ुरान म वर्णित अल्लाह, आदि, अन्त, व्यक्त, अव्यक्त, स्वयम् भगवान्, रब्ब, रहीम, उदार, घोर, गनी, नित्य, कर्त्ता आदि सब कुछ है, भक्तों पर उसका बड़ी अनुकम्पा रहती है और जो भक्त नहीं हैं, उनके ऊपर उसका कोप भी होता है, वह हमारे प्रत्येक कार्यों को देखता है, हम उसकी दृष्टि से बच नहीं सकते, उसके प्रणिधान और शरणागति मे हमारा उद्धार हो सकता है, वह प्रसन्न होकर हमें शाश्वत सुख दे सकता है, इसलाम का अल्लाह सगुण एव साकार अल्लाह है, सूफी सामान्यत इसी प्रियतम ईश्वर के वियोगी हैं, सूफीमत मे बन्दे तथा खुदा का एकीकरण है, उसमें माया को नहीं माना गया है, किन्तु माया का जगह शैतान की स्थिति मानी गयी है। जिस प्रकार माया के प्रभाव से मनुष्य मूढ हो जाता है, उसी प्रकार शैतान बन्दे को भ्रम म डालकर उसे कुमार्ग पर ले जाता है। खुदा से मिलने के लिए बन्दे को अपनी रूहका परिष्कार करना पड़ता है। इसके लिए 'शरीयत', 'तरीकत', 'हकीकत' और 'मारिफत' आदि चार दशाएँ मानी गया हैं। 'मारिफत' म रूह (आत्मा) 'बका' (जीवन) प्राप्त करने के लिए 'फना' हो जाती है 'फना' होने में इश्क (प्रेम) का विशेष हाथ है। बिना इश्क के 'बका' की कल्पना हा नहा हो सकती। 'बका' में रूह (आत्मा) अपने को 'अनलहक' की अधिकारिणी बना सकती है।*

'अनलहक' का स्थिति मे आत्मा आलमे 'लाहूत' की निवासिनी बनती है। 'लाहूत' के पहले अन्य तीन जगता में रूह अपने परिष्करण का प्रयत्न करती है। उन तीनों जगत के नाम हैं आलमे नासूत (सत् भौतिक-ससार), आलमे मल कूत (चित् ससार) और आलमे जबरूत (आनन्द ससार)। 'लाहूत' में हक (ईश्वर) से सामीप्य होता है। जो सदैव एक है। इसे और भी स्पष्ट किया जा सकता है :--सूफीमत मे ईश्वर एक है, जिसका नाम 'हक' है। आत्मा और उसमें कोई भेद नहीं। आत्मा 'बन्दे' के रूप म अपने को प्रस्तुत करती है और 'बन्दा' इश्क अर्थात् प्रेम के आधार पर ईश्वर तक पहुँचने का प्रयत्न

---

* कबीर ग्र थावली पृ० १७७—"हम चुबूदिन बूद खालिक गरक हम तुम पेस।"

करता है। शरीयत, तरीकत, हकीकत को पार करता हुआ आत्मा जब मारिफत अवस्था को पहुँचता है, तब वह ईश्वर को प्राप्त करता है। वहाँ रूह स्वयं 'हना' होकर 'बका' के लिए प्रस्तुत होती है। इस प्रकार आत्मा में परमात्मा का अनुभव होने लगता है और 'अनलहक' सार्थक हो जाता है। सूफीमत में प्रेम का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि इस मत में प्रेम ही धर्म है और कर्म भी। या यों कहा जा सकता है कि सूफीमत ही प्रेममय है। इस प्रेम के साथ इसका नशा भी प्रधान है। क्योंकि इसी नशे के माध्यम से ईश्वरानुभूति का अवसर प्राप्त होता है। इसके कारण संसार की विस्मृति हो जाती है, शरीर का कुछ ध्यान नहीं रह जाता। मात्र परमात्मा की ही 'लौ' लग जाता है। एक बात और भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि अनुराग के आधार नारी का ही रूप ईश्वर को इस मत ने माना है। भक्त, पुरुष बनकर उस स्त्री की प्रसन्नता के लिए नाना प्रकार की चेष्टा करता है। उससे प्रेम की भीख माँगता है।

(घ) रचनाएँ और काव्य पद्धति—प्रेम-काव्य का आदिम रचना "चन्दावन" या "चन्दावत" है।* इसके बाद 'रत्नावती', 'मुग्धावती', 'मृगावती' 'खण्डरावती', मधुमालती' और 'प्रेमावती' आदि रचनाएँ मिलती हैं। उपर्युक्त ग्रन्थों की ओर प्रसिद्ध सूफी कवि मलिकमुहम्मद जायसी ने अपनी पुस्तक 'पद्मावत' में इसका संकेत कर दिया है

> 'विक्रम धसा प्रेम के बारा। सपनावति कहँ गयउ पतारा ॥
> मधूपाछ मुगधावति लागी। गगनपूर होइगा बैरागी ॥
> राजकुँवर कंचनपुर गयऊ। मिरगावति कहँ जोगी भयऊ ॥
> साधे कुँवर खंडावत जोगू। मधुमालति कर कीन्ह वियोगू ॥
> प्रेमावति कहँ सुरपुर साधा। उषा लागि अनिरुध बर बाँधा ॥*

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त दामो नामक कवि की "लक्ष्मणसेन-पद्मावती"

---

* हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—(पृ० ३०.)—डा० रामकुमार वर्मा एम० ए०, पी० एच० डी०। *—जायसी ग्रन्थावली (पृ० १०७ १०८) (ना० प्र० स०) सं० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।

तथा जायसी कृत 'पद्मावत' ग्रन्थ और हैं। इन प्रेम कथाओं के अतिरिक्त अनेक प्रेम-कथाएँ ऐसी भी मिलती हैं, जो सम्पूर्णतः आख्यानक थीं; जिनमें प्रेम के मनोविज्ञान के अतिरिक्त और कोई व्यजना नहीं है। यह ध्यान देने की बात है कि ये रचनाएँ पद्य और गद्य दोनों मे लिखी गयी हैं, जिनमें ये प्रमुख हैं "माधवानल काम कन्दला", "कुतुब सतक", "रस रतन", "ज्ञानदीप", "पचसहेली कनि छीहलरी कही", "सदैवछसावलिंगारा दूहा", "कनक मजरी", "मैनासत", "मदन सतक", "ढोला मारु रा दूहा", "विनोदरस" "पुहपावती", "नल-दमन", "जलाल गहाणी री वात", "हस-जवाहर", "चन्दनमलया-गिरि री वात", "मधुमालती", "तिया विनोद" "इन्द्रावती", "कामरूप की कथा", "चन्दकुँवर री वात", "प्रेमरतन" और "पनावीरमदेरी वात" ये रचनाएँ पद्य मे हैं इनके अतिरिक्त "वात सग्रह", "बीजल विजोगण री कथा", "मोमल री वात", "रावल लखणसेन री वात", "राणै खेतै री वात," "देवरै नायकदेरी वात", "वीझरै अहीर री वात", ऊमादे भटियाणी री वात", सीहणां री वात" और पँमै घोरान्धार री वात" आदि रचनाएँ गद्य मे हैं।

उपर्युक्त रचनाओं के लेखक हिन्दू और मुसलमान दोनो हैं। इन रचनाओं की कथा-वस्तु हिंदू-पात्रों के जीवन से ली गयी है। इन रचनाओं मे जिनके लेखक हिंदू हैं, वे आख्यायिका और मनोरजन की भावना से पूर्ण हैं। किसी-किसी रचना में सिद्धात निरूपण भी पाया जाता है; ऐसी रचनाओ के लेखक मुसलमान हैं जिनकी रचनाओं मे कथा और सूफी सिद्धातों की गति साथ साथ चलती है। इन समस्त रचनाओं मे सबसे अधिक प्रसिद्ध और उत्कृष्ट रचना "पद्मावत" है जिसके लेखक मलिकमुहम्मद जायसी हैं। 'पद्मावत' की रचना के पूर्व प्रेम काव्य पर कुछ ग्रन्थ लिखे जा चुके थे, यह तो 'पद्मावत' मे कवि ने स्वीकृत ही किया है। मलिकमुहम्मद जायसी के बहुत पहले ही महात्मा कबीर ने हिन्दू और मुसलमान एकता का ऐसा वातावरण पैदा किया था, जिससे कि साधारण जनता राम और रहीम के भेद को मिटा रही थी*

* किन्तु सिद्धान्तों में यह भावना अपना प्रभाव न जमा पायी थी।

क्योंकि हिंदू साधुओं और मुसलमान फकीरों को दोनों धर्म के लोग आदर देते थे। किंतु जो साधु या फकीर भेद भाव से रहित होते थे, उन्हीं को दोनों दीनों के लोग समादृत करते थे। इस प्रकार जनता के हृदय में (हिंदू और मुसलमान दोनो मे) एक दूसरे के प्रति सद्भावना पैदा होने लगी और धार्मिक विचारों में आदान प्रदान होने लगा। हिंदू और मुसलमान दोनों के मध्य साधुता, का सामन्य आदर्श प्रतिष्ठित हो गया था। भारत मे हिंदू धर्म के प्रतिनिधि चैतन्य महाप्रभु, वल्लभाचार्य तथा रामानन्द आदि के प्रभाव से प्रेम प्रधान वैष्णवधर्म का जो व्यापक प्रभाव बगाल और गुजरात मे पड़ा, उसका सबसे अधिक विरोध वाम मार्ग और शाक्तमत ने किया। शाक्त-मत मे विहित पशु हिंसा, मन्त्र-तन्त्र, यक्षिणी की पूजा वेद विरुद्ध आचरण के रूप समझी जाने लगी। उधर विदेश से आयी मुसलमान जनता मे भी कुछ लोग (जो फकीर थे) अहिंसा का सिद्धान्त ग्रहण कर मास भक्षण को बुरा कहने लगे थे।

भारतवर्ष में यद्यपि पहले से ही अमीर खुसरो और कबीर आदि कवियों ने हिन्दू जनता के प्रेम, विनोद और धार्मिक भावनाओं में योग देकर भावों के पारस्परिक आदान प्रदान का महत्त्वपूर्ण कार्य प्रारम्भ कर दिया था, किन्तु उसकी पूर्ण प्रतिष्ठा कुतबन, जायसी आदि प्रेमाख्यानक काव्य के स्रष्टाओं के द्वारा हुई। इन कवियों ने अपनी इन रचनाओं के द्वारा प्रेम का पवित्रमार्ग दिखाते हुए उन सामान्य जीवन-दशाओं पर प्रकाश डाला, जिनका प्रभाव मनुष्यमात्र के हृदय पर एक समान दिखाई पडता है। इन मुसलमान कवियों ने हिन्दुओं की कहानियाँ हिन्दुओं की भाषा मे पूरी सहृदयता के साथ लिखकर उनके जीवन का मर्मस्पर्शिनी अवस्थाओं के साथ अपने उदार हृदय का पूर्ण सामजस्य दिखाने का चेष्टा की। * वास्तव मे महात्मा कबीर ने पहले ही भिन्न प्रतीत होती हुई परोक्ष सत्ता की एकता का आभास दिया था, किन्तु हिन्दी प्रेमाख्यानक-काव्यों के

* यहाँ यह बात ध्यान मे रखनी चाहिए कि जायसी आदि कवियों ने अपनी रचना में हिन्दुओं की कहानी अवश्य कही है किन्तु धर्म के सबध मे इस्लाम पर इन्होंने अधिक बल दिया है।

रचयिताओं ने प्रयत्न जीवन की एकता का दृश्य सामने रखने की चेष्टा की।

इन प्रेमाख्यानक-काव्यों की विशेषता यह है कि इनकी रचना भारतीय चरित काव्यों की सर्ग बद्ध शैली पर न होकर फारसी की मसनवियों के ढर्रे पर हुई है, जिनमें कथा सर्गों या अध्यायों में विस्तार के हिसाब से नहीं बँटती, वह बराबर चलती है। शीर्षक के रूप में विशेष घटनाओं या प्रसंगों का निर्देश रहता है। मसनवी का साहित्यिक नियम यही समझा जाता है कि सारा काव्य एक ही मसनवी छन्द में हो और परम्परा निर्वाह के अनुसार उसमें कथारम्भ के पूर्व ईश्वर-स्तुति, पैगम्बर वन्दना तथा उस समय के राजा की प्रशंसा भी हो। मसनवी का यह प्रणाली प्राय सभी हिन्दी प्रेमाख्यानक-काव्यों में पाया जाती है। ये प्रेमाख्यानक-काव्य अवधी भाषा में एक नियमक्रम के साथ, मात्र दोहे और चौपाई छन्द में लिखे गए हैं *।

इन सभी प्रेमाख्यानक-काव्यों में प्रतिनिधिरचना 'पद्मावत' है और प्रतिनिधि कवि मलिकमुहम्मद जायसी हैं। अत अब 'पद्मावत' पर ही अध्ययन उपस्थित कर प्रेमाख्यानक काव्य का प्रसंग समाप्त किया जाता है।

"पद्मावत" की कलात्मकता का परीक्षण करने के पूर्व यह आवश्यक है कि इस ग्रन्थ की कथा का संक्षिप्त परिचय दे दिया जाय। 'पद्मावत' की कथा इस प्रकार है—"सिंहल द्वीप में राजा गन्धर्वसेन राज्य करता था, उसकी पुत्री का नाम पद्मावती था। राजभवन में हीरामन नामक एक विलक्षण तोता था, जिससे पद्मावती बहुत प्रेम करती थी और वह तोता सदा उसी के समीप रह कर अनेक प्रकार की बात करा करता था। जब पद्मावती कुछ बड़ी हुई तो उसके सौन्दर्य की प्रशंसा सारे भूमण्डल में होने लगी। किन्तु विवाह का समय आ जाने पर भी जब उसका विवाह न हुआ, तब वह रात दिन हीरामन तोते से इसकी चर्चा किया करती थी। एक दिन उसके साथ समवेदना प्रकट करते हुए तोते ने कहा यदि कहो तो तुम्हारे लिए देश देशान्तर में भ्रमण कर योग्य

* जायसी ने सात-सात चौपाइयों (अर्द्धालियों) के बाद एक-एक दोहे का क्रम रखा है।

वर ढूँढ दें। इसका समाचार पाते ही राजा क्रुद्ध हो गया और उसने तोते के वध की आज्ञा दे दी। किन्तु राजपुत्री पद्मावती ने किसी प्रकार उसे बचा लिया। तोते ने पद्मावती से विदा माँगी, किन्तु पद्मावती ने उसे रोक लिया। हीरामन उस समय रुक तो गया, किन्तु उसे भय तो होही गया था।

"एक दिन पद्मावती सखियों के साथ क्रीड़ा करते हुए मानसरोवर में स्नान करने गयी, उसी समय हीरामन तोता चल पड़ा, जब वह एक वन में गया तो पक्षियों द्वारा उसका बड़ा सम्मान हुआ। कुछ दिनों के पश्चात् एक बहेलिया हरी पत्तियों की टट्टी लिए उस वन की ओर चला आ रहा था और पक्षी तो उसे देखकर उड़ गए, किन्तु हीरामन चारे के लोभ में वहा रहा। बहेलिए ने अन्त में उसे पकड़ लिया और बाजार में उसे बेचने लाया। चित्तौर के एक व्यापारी के साथ एक दीन हीन ब्राह्मण भी कहीं से कुछ रुपए लेकर लाभ की आशा से सिंहल की हाट में आ पहुँचा। उसने उस विलक्षण तोते को खरीद लिया और वह चित्तौर वापस लौट आया। उस समय चित्तौर का राजा चित्रसेन मर चुका था। उसका पुत्र रत्नसेन गद्दी पर बैठा था। हीरामन की प्रशंसा सुन उसने उसे एक लाख रुपए में खरीद लिया।

"एक दिन रत्नसेन शिकार खेलने चला गया। उसकी रानी नागमती तोते के पास आयी और बोली "मेरे समान सुन्दरी और भी कोई संसार में है?" इस पर हीरामन को हँसी आ गयी और उसने कहा कि सिंहल की पद्मिनी स्त्रियों की समानता में तुम्हारी जैसी ही सुन्दरता फीकी है जैसे दिन के प्रकाश की समानता में अँधेरी रात फीकी रहती है। रानी ने इस पर सोचा यदि यह तोता रहेगा तो किसी दिन ऐसे ही राजा से भी कह देगा तो वे मुझसे प्रेम करना छोड़कर पद्मावती के लिए योगी होकर चले जायँगे। उसने अपनी दासी को उस तोते का वध कर देने की आज्ञा दी। किन्तु दासी ने इस कार्य का परिणाम सोचकर तोते का वध न किया, उसे छिपा दिया। जब शिकार से राजा लौटा और उसे तोता न दिखायी पड़ा, तब वह अत्यन्त कुपित हुआ। धाय ने तोता लाकर उपस्थित किया, और उसने सब वृत्तान्त सुना दिया। अब क्या था, राजा को पद्मावती के सौन्दर्य वर्णन की बड़ी उत्कंठा हुई और हीरामन ने

उसके स्वरूप का बड़ा विस्तृत वर्णन किया। राजा वर्णन सुनते ही उसपर मुग्ध हो गया और अन्त में हीरामन को साथ ले, योगी हो; घर से चल पड़ा। राजा के साथ सोलह हजार कुँवर भी योगी होकर चल पड़े। मध्य प्रदेश के अत्यन्त दुर्गम स्थानों को लाँघते हुए वे लोग कलिंग देश में पहुँचे। वहाँ राजा गजपति से जहाज लेकर रत्नसेन सब साथियों सहित सिंहलद्वीप की ओर चल पड़ा। क्षारसमुद्र, क्षीरसमुद्र, दधिसमुद्र, उदधिसमुद्र, सुरासमुद्र, और किलकिला समुद्र को पारकर वे सब सातवें मानसरोवर समुद्र में जा पहुँचे, यह समुद्र सिंहल-द्वीप के चारों ओर फैला है। सिंहलद्वीप में उतर कर रत्नसेन अपने सब साधुओं के साथ योगी वेष ही में महादेव के मन्दिर में बैठकर तप और पद्मावती का ध्यान करने लगा। इसी बीच हीरामन पद्मावती के पास चला गया। जाते समय उसने रत्नसेन से कह दिया था कि वसन्त पंचमी के दिन पद्मावती इसी महादेव के मंडप में बसंत-पूजा करने के लिए आवेगी। उसी समय तुम्हें उसका दर्शन होगा। तुम्हारी इच्छा पूरी हो जायगी। उधर अधिक दिनों के बाद हीरामन से मिलने पर पद्मावती रोने लगी। हीरामन ने अपने भाग निकलने और बेचे जाने का सारा वृत्तान्त कह सुनाया, इसके साथ ही तोते ने राजा रत्नसेन के रूप, कुल, ऐश्वर्य और तेज आदि का बड़ा बखान किया और कहा वह तुम्हारे योग्य वर है। वह तुम्हारे प्रेम में योगी होकर यहाँ आ पहुँचा है। पद्मावती ने उसकी प्रेम-व्यथा सुनकर जयमाल देने की प्रतिज्ञा की और कहा कि वसन्त-पंचमी के दिन पूजा के बहाने उसे देखने जाऊँगी। यह सब समाचार राजा को, तोते ने लौटकर मंडप में सुना दिया। वसंत पंचमी के दिन अपनी सभी सखियों के साथ पद्मावती मंडप में गयी और उधर भी पहुँची जिधर रत्नसेन अपने साथियों के साथ था। ज्योंही रत्नसेन की आँखें उस अनिन्द्य सुन्दरी पद्मावती पर पड़ीं, वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। पद्मावती ने भी रत्नसेन को वैसा ही पाया जैसा हीरामन ने कहा था। पद्मावती मूर्च्छित योगी के पास गयी और होश में लाने के लिए उस पर चन्दन छिड़का। जब उसकी मूर्च्छा दूर हुई, तब चन्दन ने उसके हृदय पर "जोगी तूने भिक्षा प्राप्त करने योग्य-योग नहीं सीखा, जब फल प्राप्ति का समय आया तब तू सो गया।" लिखकर चली गयी।

जब राजा को होश हुआ तब वह बहुत पश्चात्ताप करने लगा। अन्त में वह जल मरने पर आरूढ़ हुआ। सभी देवता भयभीत हो गए कि कहीं यह जलमरा तो इस भयकर विरहाग्नि में समस्त लोक भस्म हो जायँगे। उन्होंने जाकर महादेव पार्वती के यहाँ पुकार की। महादेव कोढ़ी के वेश में बैल पर चढ़े राजा के पास आए और जलने का कारण पूछने लगे। इधर पार्वती की, जो महादेव के साथ था, यह इच्छा हुई कि राजा के प्रेम की परीक्षा लें। वे अत्यन्त सुन्दरी अप्सरा का रूप धर राजा के समीप जाकर बोलीं—' मुझे इन्द्र ने भेजा है। पद्मावती को जाने दो, तुझे अप्सरा प्राप्त हुई।" रत्नसेन बोला—' मुझे पद्मावती को छोड़ और किसी से कोई प्रयोजन नहीं। "पार्वती ने महादेव से कहा—'राजा का प्रेम सच्चा है। राजा ने देखा इस कोढ़ी की छाया नहीं पड़ती, इसके शरीर पर मक्खियाँ नहीं बैठती हैं, इसकी पलकें भी नहीं गिरतीं, अत यह निश्चय ही कोई सिद्ध पुरुष है। फिर महादेव को पहचान कर वह उनके पैरों पर गिर पड़ा। महादेव ने उसे सिद्धि गुटिका दी और सिंहलगढ़ में घुसने का मार्ग दिखाया। सिद्धि गुटिका पाकर रत्नसेन सब योगियों के साथ सिंहलगढ़ पर चढ़ने लगा।

"जब यह समाचार राजा गन्धर्वसेन को मिला, तब उसने दूत भेजा। दूतों से योगी रत्नसेन ने पद्मिनी के पाने का अभिप्राय कहा। दूत कुपित होकर लौट पड़े। इसी बीच हीरामन रत्नसेन का प्रेम-सन्देश लेकर पद्मावती के पास पहुँचा और पद्मावती का प्रेम-भरा सन्देश राजा रत्नसेन से कहा। इससे रत्नसेन को और भी प्रेरणा मिली। गढ़ के भीतर जो अगाध कुण्ड था, उसमें वह रात को धँसा और भीतरीद्वार को, जिसमें वज्र के किवाड़ लगे थे, उसने जा खोला। परन्तु इसी बीच सवेरा हो गया और वह अपने साथी योगियों के सहित घेर लिया गया। राजा गन्धर्वसेन के यहाँ यह विचार हुआ कि योगियों को पकड़ कर सूली दे दी जाय। दल बल के सहित सब सरदारों ने योगियों पर चढ़ाई की। रत्नसेन के साथी युद्ध के लिये उन्मुक्त हुए, रत्नसेन ने उन्हें उपदेश देकर शान्त कर दिया और कहा प्रेम-मार्ग में क्रोध करना उचित नहीं। अन्त में सब योगियों सहित रत्नसेन पकड़ा गया। ऐसा समाचार पाने पर पद्मावती की

दशा अत्यन्त खराब हो गयी। हीरामन तोते ने जाकर उसे धैर्य बँधाया कि रत्नसेन पूर्ण सिद्ध हो गया है, वह मर नहीं सकता। जब रत्नसेन बाँधकर सूली के लिए लाया गया, तब जिसने जिसने उसे देखा, सबने कहा—"यह कोई राजपुत्र जान पड़ता है। इधर सूली की तैयारी हो रही थी, उधर रत्नसेन पद्मावती का नाम रट रहा था, महादेव ने जब योगी पर ऐसा सकट देखा तब वे और पार्वती भाँट-भाँटिन का रूप धर कर वहाँ पहुँचे। इसी बीच हीरामन तोता भी रत्नसेन के पास पद्मावती का सन्देश लेकर आया कि "मैं भी हथेली पर प्राण लिए बैठी हूँ; मेरा जीना मरना तुम्हारे साथ है।" भाँट (जो कि वास्तव मे महादेव थे,) ने राजा गन्धर्वसेन को बहुत समझाया कि यह जोगी नहीं, राजा है। यह तुम्हारी कन्या के योग्यवर है, किन्तु राजा इस पर भी और अधिक क्रुद्ध हो गया। उधर योगियों का दल चारों ओर से लड़ाई के लिए चढा। महादेव के साथ हनुमान आदि देवता योगियों की सहायता के लिए आ खड़े हुए। गन्धर्वसेन की सेना के हाथियों का समूह जब आगे बढा तब हनुमानजी ने अपनी लम्बी पूँछ मे उसे लपेटकर आकाश मे फेंक दिया। गन्धर्वसेन को महादेव का घंटा और विष्णु का शंख योगियों की ओर सुनाई पड़ा और प्रत्यक्ष शिवजी युद्धस्थल मे दिखाई पड़े। ऐसा देखते ही गन्धर्वसेन महादेवजी के चरणों पर जा गिरा और बोला "कन्या आपकी है, जिसे चाहें, उसे दे।" इसके पश्चात् हीरामन तोता ने आकर राजा रत्नसेन के चित्तौर से आने का सब वृत्तान्त भी कह सुनाया। गन्धर्वसेन ने बड़ी धूम धाम से पद्मावती का विवाह रत्नसेन के साथ कर दिया और रत्नसेन के साथी जो सोलह हजार कुँवर थे, उन सब का भी विवाह पद्मिनी स्त्रियों के साथ हो गया। कुछ दिनों तक सब लोग आनन्द पूर्वक सिंहलगढ मे रहे।

इधर चित्तौर मे वियोगिनी रानी नागमती को राजा की प्रतीक्षा करते एक वर्ष बीत गया। उसके विलाप से सभी पशु पक्षी तक व्याकुल हो गये। अन्त मे आधी रात को एक पक्षी ने नागमती के दुख का कारण पूँछा। नागमती ने उससे रत्नसेन के पास पहुँचाने के लिए अपना सदेश कहा। वह पक्षी नागमती का सदेश लेकर सिंहलद्वीप पहुँचा और समुद्र के किनारे एक पेड़ पर बैठा।

संयोग से रत्नसेन शिकार खेलते-खेलते उसी वृक्ष के नीचे जा खड़ा हुआ। पक्षी ने नागमती की दुःख-कथा पेड़ पर से कह सुनाई और चित्तौर की दीन-हीन दशाओं का भी वर्णन किया। अब रत्नसेन का जी सिंहल से उचटा और वह अपने देश की ओर लौट पड़ा। चलते समय सिंहल के राजा के यहाँ से उसे विदाई में बहुत सामान मिला। किंतु अधिक सम्पत्ति देखकर राजा के मन में लोभ हुआ और साथ ही बड़ा गर्व भी। उसने सोचा यदि इतना धन लेकर मैं स्वदेश पहुँचा तो मेरे समान और कौन है ? इस प्रकार राजा के मन में अत्यन्त लोभ हो गया।

"सागर-तट पर जब रत्नसेन आया, तब समुद्र याचक का रूप धर राजा से दान माँगने लगा। किंतु राजा ने लोभवश उसका तिरस्कार कर दिया। राजा आधे समुद्र में भी न पहुँच पाया था कि बड़ा भयंकर तूफान आया जिससे जहाज दक्षिण लंका की ओर बह गए। वहाँ विभीषण का एक राक्षस माँझी मछली मार रहा था। वह अच्छा आहार देख राजा से बोला —"चलो हम तुम्हें रास्ते पर लगा देंगे। राजा ने उसकी बात मान ली। वह राक्षस सभी जहाजों को एक भयंकर समुद्र में ले गया, जहाँ से निकलना अत्यन्त कठिन था। जहाज चक्कर खाने लगे, हाथी, घोड़े, और मनुष्य आदि डूबने लगे। वह राक्षस आनन्द म डूबने लगा। इसी बीच समुद्र का एक राजपक्षी वहाँ आ पहुँचा, जिसके डैनों का ऐसा घोर शब्द हुआ कि जान पड़ता था कि पहाड़ के शिखर टूट रहे हैं। वह पक्षी उस दुष्ट राक्षस को चंगुल में दबाकर उड़ गया। किसी प्रकार उस राक्षस से निस्तार हुआ। किन्तु सब जहाज खण्ड खण्ड हो गए। जहाज के एक तख्ते पर एक ओर राजा बहा और दूसरे तख्ते पर दूसरी ओर रानी। पद्मावती बहते बहते वहाँ जा लगी जहाँ समुद्र की कन्या लक्ष्मी अपने सहेलियों के साथ खेल रही थी। लक्ष्मी मूर्च्छित पद्मावती को अपने घर ले गयी। जब पद्मावती को चेत हुआ तब वह रत्नसेन के लिए विलाप करने लगी। लक्ष्मी ने उसे धैर्य बँधाया और अपने पिता समुद्र से राजा की खोज कराने का वचन दिया। राजा बहते बहते एक ऐसे निर्जन स्थान में पहुँचा जहाँ मूँगे की टीलों के सिवा और कुछ न था। राजा पद्मिनी के लिए बहुत व्याकुल होकर

विलाप करने लगा था। राजा कटार लेकर अपने गले में मारा ही चाहता था कि ब्राह्मण का रूप धारण कर उसके सामने समुद्र आ खड़ा हुआ और उसे बचाया। समुद्र ने राजा से कहा तुम मेरी लाठी पकड़कर आँखें बन्द करलो; मैं तुम्हें वहाँ पहुँचा दूँगा, जहाँ पद्मावती है।

"जब राजा उस तट पर, जहाँ पद्मावती थी, पहुँचा तब लक्ष्मी उसकी परीक्षा के लिए पद्मावती का रूप धारण कर बैठी थी, राजा पहले उन्हें पद्मावती समझ उनकी ओर लपका। राजा के अपने निकट आने पर वे कहने लगी "मैं हाँ पद्मावती हूँ।" किन्तु जब राजा ने देखा कि यह पद्मावती नहीं है, तब तुरत उसने मुँह फेर लिया। तब अन्त में लक्ष्मी राजा को पद्मावती के पास ले गयीं। पद्मावती और रत्नसेन अनेक दिनों तक समुद्र और लक्ष्मी के मेहमान होकर वहाँ रहे। पद्मावती की प्रार्थना पर लक्ष्मी ने उन सब साथियों को भी ला खड़ा किया, जो इधर-उधर बह गए थे। जो मर गए थे, वे भी अमृत पिलाने से जी गए। तब बड़े आनन्द के साथ वे सब वहाँ से विदा हुए। विदा होते समय समुद्र ने बहुत से अमूल्य रत्न भेंट किए। उसमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण वस्तुएँ थीं—अमृत, हंस, राजपक्षी, शार्दूल और पारसपत्थर। इन सभी अनमोलपदार्थों को लिए हुए रत्नसेन पद्मावती के साथ चित्तौर जा पहुँचा। नागमती और पद्मावती दोनो रानियों के साथ राजा सुखपूर्वक रहने लगा। नागमती से नाग-सेन और पद्मावती से कमलसेन, ये दो पुत्र राजा को हुए।

"चित्तौर की राज-सभा में राघवचेतन नामक एक पंडित था, जिसे यक्षिणी सिद्ध थी। एक दिन राजा ने पंडितों से पूछा—"दूज कब है?" राघव के मुँह से निकला—"आज।" अन्य पंडितों ने कहा—"आज नहीं हो सकती, कल होगी।" राघव ने कहा यदि आज दूज न हो तो मैं पंडित नहीं। "पंडितों ने कहा कि "राघव वाममार्गी है, यक्षिणी की पूजा करता है, जो चाहे सो कर दिखावे, किन्तु आज दूज नहीं हो सकती।" राघव ने यक्षिणी के प्रभाव से उसी दिन सन्ध्या को द्वितीया का चन्द्रमा दिखा दिया। किंतु दूसरे दिन फिर द्वितीया का ही चन्द्रमा दिखाई पड़ा। इस पर पंडितों ने राजा रत्नसेन से कहा—"देखिए यदि कल द्वितीया रही होती तो आज चन्द्रमा की कला कुछ अधिक होती।

झूठ और सच की परख कर लीजिए।" राघव का भेद खुल गया और वह वेद विरुद्ध आचरण करनेवाला प्रमाणित हुआ। राजा रत्नसेन ने उसे देश निकाले का दण्ड दिया।

'पद्मावती ने जब यह वृत्तान्त सुना, तब उसने ऐसे गुणी पंडित का असन्तुष्ट होकर जाना राज्य के लिए अच्छा नहीं समझा। उसने भारी दान देकर राघव को प्रसन्न करना चाहा। सूर्यग्रहण का दान देने के लिए उसने उसे बुलवाया, जब राघव महल के नीचे आया तब पद्मावती ने अपने हाथ का एक अमूल्य कंगन—जिसका जोड़ा अत्यन्त दुष्प्राप्य था—झरोखे पर से फेंका। झरोखे पर पद्मावती की झलक देख राघव बेसुध होकर गिर पड़ा। जब उसे चेत हुआ तब उसने सोचा कि अब यह कंगन लेकर बादशाह के पास दिल्ली चलूँ और पद्मिनी के रूप का वर्णन करूँ। वह लम्पट है, तुरन्त चित्तौड़ पर चढ़ाई करेगा और इसके जोड़ का दूसरा कंगन भी मुझे इनाम में देगा। यदि ऐसा हुआ तो मैं राजा से बदला भी ले लूँगा और सुखपूर्वक जीवन भी बिताऊँगा।

'यही सोचकर राघव दिल्ली पहुँचा और वहाँ बादशाह अलाउद्दीन को कंगन दिखाकर उसने पद्मिनी के रूप का वर्णन किया। अलाउद्दीन ने बड़े आदर से उसे अपने यहाँ रखा और सरजा नामक एक दूत के हाथ एक पत्र रत्नसेन को भेजा कि पद्मिनी को तुरन्त भेज दो, बदले में जितना राज्य चाहो ले लो। पत्र पाते ही रत्नसेन क्रोध से लाल हो गया और बहुत बिगड़कर दूत को वापस कर दिया। अलाउद्दीन ने चित्तौरगढ़ पर चढ़ाई कर दी। आठ वर्ष तक मुसलमान चित्तौर को घेरे रहे। घोर युद्ध होता रहा, किन्तु गढ़ न टूट सका। इसी बीच दिल्ली से एक पत्र अलाउद्दीन को मिला उसमें हरेव लोगों के फिर से चढ़ आने का समाचार लिखा था। बादशाह ने जब देखा कि गढ़ नहीं टूटता है, तब उसने एक कपट की चाल सोची उसने रत्नसेन के पास संधि का एक प्रस्ताव भेजा और यह कहलाया कि मुझे पद्मिनी नहीं चाहिए, समुद्र से पाँच वस्तुएँ जो तुम्हें मिली हैं, उन्हें देकर मेल कर लो, राजा ने स्वीकार कर लिया और बादशाह ने चित्तौरगढ़ के भीतर ले जाकर बड़ी धूम धाम से उसकी दावत की।

"गोरा और बादल नाम के दो विश्वास पात्र सरदारों ने राजा को बहुत समझाया कि मुसलमानों का विश्वास करना ठीक नहीं, किन्तु राजा ने ध्यान न दिया। वे दोनों वीरनीतिज्ञ सरदार अप्रसन्न होकर अपने घर चले गए। कई दिनों तक बादशाह की मेहमानदारी होती रही। एक दिन वह टहलते टहलते पद्मिनी के महलों की ओर भी जा निकला जहाँ से एक से एक रूपवती स्त्रियाँ स्वागत के लिए खड़ी थीं। बादशाह ने राघव से, जो उसके साथ ही था पूछा कि "इनमें पद्मिनी कौन है ?" राघव बोला—"इनमें पद्मिनी कहाँ है ? ये सभी उसकी दासियाँ हैं। बादशाह पद्मिनी के महल के सामने ही बैठकर राजा के साथ शतरंज खेलने लगा। जहाँ वह बैठा था, वहाँ उसने एक दर्पण भी इस उद्देश्य से रख दिया था कि पद्मिनी यदि झरोखे पर आवेगी तो उसकी छाया दर्पण में देखूँगा। पद्मिनी कौतूहल से झरोखे पर आई और बादशाह को उसका प्रतिबिम्ब दर्पण में दिखाई पड़ा, उसे देखते ही वह बेहोश होकर गिर पड़ा।

'अलाउद्दीन ने राजा से विदा माँगी। राजा उसे पहुँचाने साथ साथ चला। एक एक फाटक पर राजा बादशाह को कुछ न कुछ देता जाता था। अन्तिम फाटक पर होते ही राघव के इशारे से बादशाह ने रत्नसेन को पकड़ लिया और बाँधकर दिल्ली ले गया। वहाँ राजा को एक तंग कोठरी में बन्द करके अनेक प्रकार से भयंकर कष्ट देने लगा। इधर चित्तौर में भयंकर हाहाकार मच गया था, दोनों रानियाँ रो रोकर प्राण देने लगीं। इसी अवसर पर राना रत्नसेन के शत्रु कुभलनेर के राजा देवपाल को दुष्टता सूझी। उसने कुमुदिनी नाम की एक दूती को पद्मावती के पास भेजा। पहले तो पद्मावती उस दूती को अपने मायके की स्त्री सुनकर बड़े प्रेम से मिली और उससे अपना दुख कहने लगी, किन्तु जब धीरे धीरे उसका भेद खुला तब उसने उसे उचित दण्ड देकर निकलवा दिया। इसके बाद अलाउद्दीन ने भी जोगिनि के वेश में एक दूती इस आशा से भेजी कि वह रत्नसेन से भेंट कराने के बहाने पद्मिनी को जोगिनि बनाकर अपने साथ दिल्ली लावेगी। किन्तु उसकी भी दाल न गली।

"अन्त मे पद्मिनी गोरा और बादल के घर गयी और उन दोनो क्षत्रिय वीरों के सामने अपना दुख सुनाकर राजा को छुड़ाने की प्रार्थना की। दोनों वीरों ने राजा को छुड़ाने की प्रतिज्ञा की और रानी को बड़ा धैर्य्य बँधाया। दोनों ने सोचा जिस प्रकार मुसलमानो ने धोखा दिया, उसी प्रकार उनके साथ भी चाल चलनी चाहिए। उन्होंने सोलह सौ ढकी पालकियो के भीतर तो महद्य राजपूत सरदारो को बैठाया और सबसे उत्तम बहुमूल्य पालकी मे औजार के साथ एक लोहार को बैठाया और इसका प्रचार कर दिया कि सोलह सौ दासियों के साथ पद्मिनी दिल्ली जा रही है। गोरा के पुत्र बादल की अवस्था छोटी थी, जिस दिन दिल्ली जाना था, उसी दिन उसका गवना आया था। उसको नवागता वधू ने उसे युद्ध मे जाने से बहुत रोका, किन्तु उस वीर कुमार ने एक भी न सुनी। अन्त में ये सभी सवारियाँ दिल्ली के किले मे पहुंची। वहाँ पर कर्मचारियों को घूस देकर अपने पक्ष मे किया गया जिसमे किसी पालकी की तलाशी न ली गयी। बादशाह के यहाँ खबर दी गयी कि पद्मिनी आई है और वह कहती है कि मै राजा से मिल लूँ और चित्तौर के खजाने की कुजी उनके सिपुर्द कर दूँ तब महल मे जाऊँ। बादशाह ने आज्ञा दे दी। वह सजी हुई पालकी वहाँ पहुंचाई गयी, जहाँ राजा रत्नसेन कैद था। लोहार ने वहाँ पहुंच कर चट राजा की बेड़ी काट दी और वह शस्त्र लेकर घोड़े पर सवार हो गया, जो पहले से तैयार था। देखते-देखते हथियारबन्द सरदार भी पालकियों से निकल पड़े। इस प्रकार गोरा और बादल राजा को छुड़ा कर चित्तौर चले। जब बादशाह को समाचार मिला तब उसने अपनी सेना सहित पीछा किया। गोरा-बादल ने जब शाहीफौज को पीछे आते हुए देखा तब एक हजार सैनिकों के साथ गोरा तो शाहीफौज को रोकने के लिए डट गया और बादल राजा को लेकर चित्तौर की ओर बढ़ा। गोरा वीरता से लड़कर हजारों को मार अन्त मे सरजा के हाथों मारा गया। इसी बीच रत्नसेन, चित्तौर पहुंच गया और चित्तौर पहुंचते ही राजा ने पद्मिनी के मुँह से देवपाल की दुष्टता का समाचार पाते ही उसे बाँध लाने की प्रतिज्ञा की। सवेरा होते ही राजा ने कुभलनेर पर चढाई कर दी। देवपाल और रत्नसेन से द्वन्द युद्ध हुआ। देवपाल की साँग रत्नसेन की नाभि मे घुस कर

उस पार निकल गयी। देवपाल साँग मार कर लौटा ही चाहता था कि रत्नसेन ने उसे जा पकड़ा और उसका सिर काटकर उसके हाथ पैर बाँधे। इस प्रकार अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर और चित्तौरगढ की रक्षा का भार बादल को सौंपकर रत्नसेन ने शरीर छोड़ा।

"राजा के शव के साथ नागमती और पद्मिनी दोनों रानियाँ सती हो गयीं। इतने में शाही सेना चित्तौर गढ़ आ पहुँची। बादशाह ने पद्मिनी के सती होने का समाचार सुना। बादल ने प्राण रहते गढ की रक्षा की किंतु अन्त में वह फाटक के युद्ध में मारा गया और चित्तौरगढ पर मुसलमानों का अधिकार हो गया।"

जायसी ने 'पद्मावत' की कथा यदि इतिहास से मिलायी जाय तो जान पड़ेगा कि कथानक का पूर्वार्द्ध तो कवि की कल्पनात्मक कथा है और उत्तरार्द्ध इतिहास प्रसिद्ध कथा है। यदि अंतर है तो थोड़ा सा, वह भी कवि की कुशलता का (कथानक को रोचक बनाने के लिए ऐतिहासिक कथानक को लेकर कुछ घटनाएँ छोड़ देने और कुछ को कल्पना के द्वारा बना लेने की) परिचायक है।

सभी प्रेम-काव्य की कथाएँ प्राय काल्पनिक ही हैं, किन्तु जायसी ने कल्पना के साथ साथ इतिहास की भी सहायता ली है। क्योंकि रत्नसेन की सिंहल यात्रा काल्पनिक है और अलाउद्दीन का पद्मावती के आकर्षण में चित्तौर पर चढ़ाई करना ऐतिहासिक घटना है। "टाड राजस्थान" में यह घटना इस प्रकार है—"विक्रम संवत् १३३१ में लखनसी चित्तौर के सिंहासन पर बैठा। वह छोटा था, इससे उसका चाचा भीमसी (भीमसिंह) ही राज्य करता था। भीमसी का विवाह सिंहल के चौहान राजा हम्मीरशंक की कन्या पद्मिनी से हुआ था, जो रूप-गुण में जगत् में अद्वितीय थी। उसके रूप की ख्याति सुनकर दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन ने चित्तौरगढ पर चढ़ाई की। घोर युद्ध के उपरान्त अलाउद्दीन ने संधि का प्रस्ताव भेजा कि मुझे एक बार पद्मिनी का दर्शन ही हो जाय तो मैं दिल्ली लौट जाऊँ। इस पर यह ठहरी कि अलाउद्दीन दर्पण में पद्मिनी की छायामात्र देख सकता है इस प्रकार युद्ध बंद हुआ और अलाउद्दीन बहुत थोड़े से सिपाहियों के साथ चित्तौर गढ़ के भीतर लाया गया।

वहाँ से जब वह दर्पण में छाया देखकर लौटने लगा तब राजा उसपर पूरा विश्वास करके गढ़ के बाहर तक उसको पहुँचाने आया। बाहर अलाउद्दीन के बहुत से सैनिक पहले से घात में लगे हुए थे, ज्योंही राजा बाहर आया, वह त्योंही पकड़ लिया गया और मुसल्मानों के शिविर में, जो चित्तौर में थोड़ा दूर पर था, कैद कर लिया गया। राजा को कैद करके यह घोषणा की गई कि जब तक पद्मिनी न भेज दी जायगी, राजा नहीं छूट सकता।

"चित्तौर में हाहाकार मच गया। पद्मिनी ने जब यह सुना तब उसने अपने मायके गोरा और बादल नाम के सरदारों से मन्त्रणा की। गोरा पद्मिनी का चाचा लगता था और बादल गोरा का भतीजा था। उन दोनों ने राजा के उद्धार की एक युक्ति सोची। अलाउद्दीन के पास कहलाया गया कि पद्मिनी जायगी; पर रानी की मर्यादा के साथ। अलाउद्दीन अपनी सब सेना वहाँ से हटा दे। पद्मिनी के साथ बहुत सी दासियाँ रहेंगी और दासियों के सिवा बहुत सी सखियाँ भी होंगी, जो केवल उसे पहुँचाने और विदा करने जायेंगी। अन्त में सात सौ पालकियाँ अलाउद्दीन के खेमे की ओर चलीं। हर एक पालकी में एक एक सशस्त्र वीर राजपूत बैठा था। एक एक पालकी उठाने वाले जो छ-छ कहार थे, वे भी कहार बने हुए सशस्त्र सैनिक थे। जब वे शाही खेमे के पास पहुँचे तब चारों ओर कनातें घेर दी गयीं। पालकियाँ उतारी गयीं। पद्मिनी को अपने पति से अन्तिम भेंट करने के लिए आध घंटे का समय दिया गया। राजपूत चटपट राजा को पालकी में बिठाकर चित्तौरगढ़ की ओर चल पड़े। शेष पालकियाँ मानों पद्मिनी के साथ दिल्ली जाने के लिए रह गयीं। अलाउद्दीन की भीतरी इच्छा भीमसी को चित्तौरगढ़ जाने देने की न थी। देर देखकर वह घबराया। इतने में वीर राजपूत पालकियों से निकल पड़े। अलाउद्दीन पहले से सतर्क था, उसने पीछा करने का हुक्म दिया। पालकियों से निकले हुए राजपूत पीछा करनेवालों को कुछ देर तक बड़ी वीरता से रोके रहे, पर अन्त में एक एक करके वे सब मारे गए।

"इधर भीमसी के लिए बहुत तेज घोड़ा तैयार खड़ा था, वह उस पर सवार होकर गोरा बादल आदि कुछ-चुने साथियों के साथ चित्तौरगढ़ के भीतर पहुँच

गया। पीछा करनेवाली मुसलमान सेना फाटक तक साथ लगी आयी। फाटक पर घोर युद्ध हुआ। गोरा बादल के नेतृत्व में राजपूत वीर खूब लड़े। अलाउद्दीन अपना सा मुँह लेकर दिल्ली लौट गया, पर इस युद्ध में चित्तौर के चुने चुने वीर काम आए। गोरा भी इसी युद्ध में मारा गया। बादल, जो चारणों के अनुसार केवल बारहवर्ष का था, बड़ी वीरता से लड़कर जीता बच आया। उसके मुँह से अपने पति की वीरता का वृत्तान्त सुनकर गोरा की स्त्री सती हो गयी।

"अलाउद्दीन ने सम्वत् १३४६ (सन् १२६० ई०, पर फरिश्ता के अनुसार सन् १३०३ ई० जो कि ठीक माना जाता है) में फिर चित्तौरगढ़ पर चढ़ाई की। इसी दूसरी चढ़ाई में राणा अपने ग्यारह पुत्रों सहित मारे गए। जब राणा के ग्यारह पुत्र मारे जा चुके और स्वयं राणा के युद्ध क्षेत्र में जाने की बारी आई तब पद्मिनी ने जौहर किया। कई सशस्त्र राजपूत ललनाओं के साथ पद्मिनी ने चित्तौरगढ़ के गुप्त भूद्वरे में प्रवेश किया, जहाँ उन सती स्त्रियों को अपनी गोद में लेने के लिए आग दहक रही थी। इधर यह काण्ड समाप्त हुआ उधर वीर भीमसी ने रणक्षेत्र में शरीर त्याग किया।"

दो चार घटनाओं को छोड़कर यही वृत्तात "आइने अकबरी" में दिया गया है। 'आइने अकबरी' में भीमसी के स्थान पर रतनसी (रत्नसिंह या रत्न सेन) नाम है। रत्नसिंह के मारे जाने का वृत्तान्त 'आइने अकबरी' में इस प्रकार है कि "अलाउद्दीन दूसरी चढ़ाई में भी हारकर लौटा। वह चित्तौर से हार कर सात कोस की दूरी पर लौटा ही था कि वहां रुक गया और मित्रता का नवीन संदेश भेजकर रतनसी को मिलने के लिए बुलाया। अलाउद्दीन की अनेक चढ़ाइयों से रतनसी ऊब गया था इसलिए उसने मिलना स्वीकार कर लिया। एक विश्वासघाती के साथ वह अलाउद्दीन से मिलने गया और धोखे में मार डाला गया। उसका संबंधी अरसी चटपट चित्तौर के सिंहासन पर बैठाया गया अलाउद्दीन चित्तौर पर फिर चढ़ आया और उस पर अधिकार कर लिया। अरसी मारा गया और पद्मिनी सभी स्त्रियों के साथ सती हो गयी।"

उपर्युक्त दोनों ऐतिहासिक घटनाओं के मिलान करने से 'पद्मावत' में आयी

कथा में अनेक तथ्यों का पता चल जाता है। सर्वप्रथम जायसी ने जो रत्नसेन नाम दिया है, वह कल्पित नहीं कहा जा सकता। क्योंकि यही नाम 'आइने-अकबरी' में भी आया है। इतिहासज्ञों में यह नाम अवश्य प्रख्यात था कविवर जायसी को इतिहास का ज्ञान था। दूसरी बात जायसी ने जो लिखी है कि रत्नसेन कुंभलनेरगढ़ के नीचे देवपाल के साथ द्वन्द्वयुद्ध में मारा गया, उसका उल्लेख (जो 'आइने-अकबरीकार ने विश्वासघाती के साथ मिलनेवाली घटना का किया है) जान पड़ता है इससे संबंधित है।

इन घटनाओं का स्वतंत्र रूप से कुछ फेरफार कर उन्हें काव्योपयोगी स्वरूप देने के लिए कवि जायसी ने सफल प्रयास किया। उन्हें ऐसा करने से बड़ी सफलता मिली। क्योंकि कवि ने कथा का विस्तार बड़े ही मनोरंजक ढंग से किया है। घटनाओं की शृंखला सब प्रकार से स्वाभाविक है, किन्तु यदि कहीं दोष आ भी गया है तो वह अति आदर्श और अतिरंजना के कारण ही। वास्तव में कवि को हिन्दू धर्म के आदर्शों ने सात्विक मार्ग पर चलने के लिए बाध्य किया है।

(ड) काव्य के विशेष गुण और दोष—जायसी के द्वारा वर्णित कथा में जो कल्पना को स्थान मिला, वह बड़ा मार्मिक है और कवि की कला-श्रेष्ठता का परिचायक है। 'पद्मावत' में राघवचेतन की घटना कल्पनात्मक है। अलाउद्दीन ने चित्तौरगढ़ पर आक्रमण करने के बाद संधि की जो शर्त्तें (समुद्र से प्राप्त पाँचों वस्तुओं के देने की) अलाउद्दीन की ओर से रखी गयीं, उनकी घटना कल्पनाजनित है। इसी प्रकार इतिहास में दर्पण के बीच पद्मिनी की छाया देखने की शर्त प्रसिद्ध है, किन्तु दर्पण में प्रतिबिंब देखने की घटना कवि ने आकस्मिक रूप में वर्णित किया है। इस प्रकार घटना में थोड़ी मौलिकता आ जाने से कवि नायक रत्नसेन के गौरव की रक्षा कर सका है। क्योंकि पद्मिनी की छाया भी दूसरे को दिखाने पर सहमत होना रत्नसेन जैसे वीर राजा के व्यक्तित्व को गिराना था। इसी प्रकार अलाउद्दीन के शिविर में राजा रत्नसेन के बन्दी होने का वर्णन न देकर कवि ने उसे दिल्ली में बन्दी होना लिखा है, ऐसा करने से कवि को दूती और जोगिन के वृत्तान्त, रानियों के विप्रलंभ तथा विलाप

और गोरा, बादल के प्रयत्न विस्तार के वर्णन का प्रसंग मिल सका है। इस प्रसंग में कवि ने पद्मिनी के सतीत्व की मनोहर झाँकी और वीर बादल के क्षात्रतेज एवं कर्तव्य की कठोरता पर ऐसा प्रकाश डाला है जो अत्यंत मार्मिक होने से पाठक का हृदय पिघला देता है। देवपाल और अलाउद्दीन द्वारा दूती भेजने एवं बादल और उसकी पत्नी के सम्वाद की सृष्टि कवि ने इसीलिए कल्पित की है। कवि ने अपने चरित-नायक के सम्मान में पीछा करते हुए अलाउद्दीन के चित्तौर पहुचने के पूर्व रत्नसेन या देवपाल के हाथों मारा जाना और अलाउद्दीन के द्वारा पराजित न होना आदि घटनाओं की कल्पना कर अपने उच्च कवि हृदय का परिचय दिया है।

जैसा कि हम ऊपर लिख आए हैं कि 'पद्मावत' के पूर्वार्द्ध की कथा कल्पनात्मक है, उसपर आचार्य शुक्लजी का मत है कि "उत्तर भारत में विशेषतः अवध में 'पद्मिनी रानी और हीरामन सुए' की कहानी अब तक प्रायः उसी रूप में कही जाती है, जिस रूप में जायसी ने उसका वर्णन किया है। जायसी इतिहासविज्ञ थे, इससे उन्होंने रत्नसेन, अलाउद्दीन आदि नाम दिए हैं, पर कहानी कहनेवाले नाम नहीं लेते हैं केवल यही कहते हैं कि "एक राजा था", "दिल्ली का एक बादशाह था" इत्यादि। यह कहानी बीच-बीच में गा गाकर कही जाती है, जैसे राजा की पहली रानी जब दर्पण में अपना मुँह देखती है, तब सूए से पूछती है—

"देस देस तुम फिरौ, हो सुअटा ! मोरे रूप और कहूँ कोई ?

सुआ उत्तर देता है—

"काह बखानौ सिंहलके रानी। तोरे रूप भरै सब पानी॥

* * *

"इस सम्बन्ध में हमारा अनुमान यह है कि जायसी ने प्रचलित कहानी को ही लेकर, सूक्ष्म ब्योरों की मनोहर कल्पना करके उसे काव्य का सुन्दर स्वरूप दिया है। इस मनोहर कहानी को कई लोगों ने काव्य के रूप में बाँधा। हुसेन गजनवी ने "किस्सए पद्मावत" नाम का एक फारसी काव्य लिखा। सन् १६५२ ई० में राय गोविंद मुंशी ने पद्मावती की कहानी फारसी गद्य में "तुकफतुल

ज़हूर" के नाम से लिखी । उसके पीछे मीर जियाउद्दीन 'इब्रत' और गुलाम अली 'इशरत' ने मिलकर सन् १७९६ ई० में उर्दू शेरों में इस कहानी को लिखा। मलिकमुहम्मद जायसी ने अपनी 'पद्मावत' सन् १५२० ई० में लिखी था।*

'पद्मावती" का कथानक मौलिक नहीं है। जायसी से पहले पाठक राजवल्लभ ने १८५७ ई० में इसे संस्कृत में लिखा था।* 'पद्मावत' का कथा से स्पष्ट है कि यह एक प्रेम कहानी है। निर्गुन कवि ने कथा का विस्तार बड़ेही मनोरंजक ढंग से किया है। 'पद्मावत' की रचना इतिवृत्तात्मक होते हुए भी रसात्मक है। कौतूहल की सृष्टि इतिवृत्त में होती है और रसात्मकता वर्णन विस्तार से भी होती है। जायसी ने जहाँ कौतूहल की सृष्टि की है, वहाँ वर्णन-विस्तार में मनोरंजन की यथेष्ट सामग्री दे दी है। कवि को सबसे बड़ा सफलता पात्रों के मनोवैज्ञानिक चित्रण में मिला है। नागमती का विरहवर्णन, उसकी उन्मादावस्था, पशु पक्षियों का उसके प्रति सहानुभूति प्रकट करना, पक्षी द्वारा संदेश भेजना आदि स्वाभाविक ढंग में विदग्धतापूर्ण भाषा में वर्णित हैं, जो कवि की रचना में विशेष मार्मिक स्थल हैं*। इसी प्रकार बारहमासा में वेदना का स्वरूप और हिन्दू दाम्पत्य-जीवन का अत्यन्त हृदयहारी दृश्य कवि ने उपस्थित किया है। रत्नसेन और पद्मावती मिलन में संयोग तथा नागमती के विरह-वर्णन में वियोग शृङ्गार की मनोवैज्ञानिक अभिव्यंजना कवि ने बड़े कौशल से किया है। गोरा बादल के उत्साह में तो वीररस जैसे मूर्तिमान हो गया है। इसी प्रकार रत्नसेन के योगी होने की और उसकी मृत्यु की कथा में करुणरस की सृष्टि अत्यन्त मार्मिक है। जायसी ऐकान्तिक प्रेम की गम्भीरता और गूढ़ता के मध्य जीवन के दूसरे अंगों के साथ भी प्रेम का स्पर्श करते चले हैं, यही कारण है कि उनकी प्रेम-गाथा पारिवारिक और सामाजिक जीवन से विच्छिन्न नहीं होने पायी है।

---

* आचार्य शुक्ल प्रणीत "त्रिवेणी" पृ० २२-२३। * नागमती के वियोग वर्णन को आचार्य शुक्ल जीने हिंदी साहित्य में विप्रलंभ-शृङ्गार का अत्यन्त उत्कृष्ट वर्णन माना है। "त्रिवेणी"—पृ० ३३। * 'हिंदी प्रेमाख्यानक काव्य, पृ० १६६ ७—डा० कमलकुल श्रेष्ठ एम० ए०, डी० फिल०।

वास्तव में उसमें व्यवहारात्मक तथा भावात्मक दोनों शैलियों का संघटन है। इतना होते हुए भी 'पद्मावत' जीवन गाथा नहीं कही जा सकती, बल्कि इस रचना को प्रेम गाथा ही कहना उपयुक्त होगा। ग्रन्थ का पूर्वार्द्ध भाग तो प्रेम गाथा के विवरणों से पूर्ण है; किंतु उत्तरार्द्ध में जीवन के दूसरे मार्गों का भी सन्निवेश पाया जाता है। दाम्पत्य प्रेम के अतिरिक्त मानव की दूसरी वृत्तियाँ, *जिनका कुछ विस्तार के साथ समावेश है, वे पूर्णरूप से परिस्फुट नहीं हो पायी* हैं। जैसे यात्रा, युद्ध, मातृस्नेह, सपत्नीकलह, स्वामिभक्ति, वीरता, कृतघ्नता सतीत्व और प्रवंचना। दाम्पत्य प्रेम के अतिरिक्त मानव जीवन की इन वृत्तियों *के बावजूद भी 'पद्मावत' शृङ्गाररस प्रधान काव्य कहा जा सकता है।*

'पद्मावत' का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थल नागमती के विरह-वर्णन का है, जहाँ कवि को अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई है। अतः यहाँ थोड़ा विचार कर लेना आवश्यक है। *हिंदी-साहित्य के अन्य कवियों ने भी विरह वर्णन किया है,* किंतु जायसी का विरह-वर्णन अपनी अलग विशेषता रखता है। नागमती उपवन में वृक्षों के नीचे सारी रात व्यथित हो, रोती रहती है। उसकी इस दशा से पशु-पक्षी वृक्ष, पल्लव सभी सहानुभूति रखते हैं। यद्यपि कवियों द्वारा ऐसा वर्णन और दूसरी रचनाओं में भी पाया जाता है, किंतु जायसी ने पशु पक्षियों, पेड़ पल्लवों को सहानुभूति दिखाकर कवि परम्परा के इस तत्त्व को ग्रहण करने में भी नवीनता ला दी। दूसरे कवियों ने इस वर्णन में पशु पक्षियों को सम्बोधित भर किया है, किंतु जायसी इससे एक कदम आगे हैं।

"फिरि फिरि रोव कोउ नहि डोला। आधी राति बिहंगम बोला॥
तू फिरि फिरि दाहै सब पाँखी। केहि दुख रैनि न लावसि आँखी॥"

नागमती की इस दीनदशा पर विहंगम को दया आ जाती है और जब उससे रहा नहीं जाता, तब वह उसके दुःख का कारण पूँछता है। ऐसा करके कवि ने हृदय तत्त्व की सृष्टि व्यापिनी भावना द्वारा मानव एवं पशु-पक्षी सब को एक ही जीवन-सूत्र में आबद्ध करने की, सफल चेष्टा की है। क्योंकि अन्य कवियों के खग मृग मौन रहते हैं। वे कुछ भी उत्तर नहीं देते, जिससे किसी की *(पशु पक्षियों की) सहानुभूति प्रकट नहीं होती।*

नागमती अपना हृदय खोलकर पक्षी से कहती है :—

"चारिउ चक्र उजार भए, कोइ न सँदेसा टेक।
कहौं बिरह दुख आपन, बैठि सुनहु दँड एक ॥"

नम्रता प्रकट करते हुए वह विरह सँदेशवाहक होने को तत्पर हो जाता है। नागमती ने पद्मावती के पास जो सँदेशा भेजा है वह अत्यन्त मार्मिक है, वह जो वह मान, गर्व आदि से रहित है, उसमें सुख और भोग की कामना नहीं है. उसमें है विनम्रता, शीतलता और है विशुद्ध प्रेम की अभिव्यञ्जना।

पद्मावति सौं कहेहु बिहंगम। कन्त लोभाइ रही करि संगम॥
तोहि चैन सुख मिलै सरीरा। मो कहँ हिए दुन्द दुख पूरा॥
हमहुँ बियाही सँग ओहि पीऊ। आपुहि पाइ. जानु पर-जीऊ॥
मोहिं भोग सौं काजन बारी। सौंह दिस्टि कै चाहन हारी॥"

उपर्युक्त वर्णन में जायसी ने विलासिता से रहित पवित्र प्रेम की सृष्टि की है, जिसमें नागमती के व्यक्तित्व का संरक्षण करते हुए कवि ने पाठक के हृदय में संवेदना का स्रोत बहा देने का सफल प्रयत्न किया है।

इसी प्रकार—

"दहि कोइला भइ कंत-सनेहा। तोला माँसु रही नहिं देहा॥
रकत न रहा, बिरह तन जरा। रती रती होइ नैनन्ह ढरा॥

*   *   *

हाड़ भए सब किंगरी, नसैं भईं सब ताँति।
रोवँ रोवँ तें धुनि उठै, कहौं बिथा केहि भाँति॥"

विरह वर्णन का यह हृदय जो कवि ने दिखाया है वह कितना मार्मिक है! विरह वर्णन के अन्तर्गत कवि ने जिस बारहमासे की सृष्टि की है, वह वेदना का कितनी सुन्दर अभिव्यञ्जना है, उसके भीतर जो हिन्दू दाम्पत्य जीवन का हृदयस्पर्शी चित्रण है जिसमें चारों ओर की प्राकृतिक वस्तुओं तथा व्यापारों के साथ पवित्र भारतीय हृदय की साहचर्य भावना और विषय के अनुसार भाषा का स्वाभाविक प्रयोग संघटित है, वह भुलाया नहीं जा सकता। नीचे कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

"चढा असाढ, गगन घन गाजा। साजा विरह, दुंद दल बाजा॥
धूम, साम, धौरे, घन धाए। सेत धजा बग पांति देखाए॥
खडग बीजु चमकै चहु ओरा। बुन्द बान बरसहिं चहु ओरा॥
*   *   *
"भाद अकूक अथाह गँभीरी। जिउ बाउर भा फिरै गँभीरी॥
जग जल बूड जहाँ लगि ताकी। मोरि नाव खेवक बिनु थाकी॥
जेठ जरै जग चलै लुवारा। उठहिं बवंडर परहि अँगारा॥
उठै आगि औ आवै आँधी। नैनन सूझ, मरौं दुख बाँधी॥"

वास्तव में जायसी कृत नागमती का विरह वर्णन व्यक्तिगत न होकर सार्वजनिक विरह रूप में वर्णित हुआ है। क्योंकि उसके दुख से छोटे बडे सभी स्तरों के व्यक्ति समवेदना प्रकट कर सकेंगे। उसके विरह वर्णन में राजमहल के ऐश्वर्यों का नाम लिया गया होता तो नागमती का विरह शायद इतना व्यापक न होकर एकांगी हो जाता। विरह-वर्णन में चौमासेवाले प्रसंग में स्वामी के घर न रहने पर घर की जो स्थिति होती है, वह सर्वसाधारण की स्थिति का चित्र है—

"पुष्य नखत सिर ऊपर आवा। हौं बिनु नाह, मँदिर को छावा।"

इसी प्रकार शरीर का रूपक देकर वर्षा के आगमन पर जिस चिन्ता की भलक कवि ने दिखायी है वह साधारण गृहस्थों के स्तर को स्पर्श करती है।

"तपे लागि अब जेठ असाढी। मोहि पिउ बिन छाजनि भइ गाढी॥
तन तिन उरभा, भूरा खरी। भइ बरखा, दुख आगरि जरी॥
बध नाहिं औ कंध न कोई। बात न आव, कहौं का रोई॥
साँठि नाठि, जग बात को पूछा। बिन जिउ फिरै, मूँज-तनु छूँछा॥
भइ दुहेली टेक बिहूनी। थाँभ नाहिं उठि सकै न थूनी॥
बरसै मेह, चुवहिं नैनाहा। छपर छपर होइ रहि बिनु नाहा॥
कोरौ कहाँ, ठाट नव साजा। तुम बिनु कन्त न छाजनिछाजा॥
इसी प्रकार—

"काँपे हिया जनावै सीऊ। तौ पै जाइ होइ सँग पीऊ॥

पहल पहल तन रूई झाँपै । हहरि हहरि अधिकौ हिय काँपै ॥"

* * *

"चारिहु पवन झकोरै आगी । लंका दाहि पलंका लागा ॥
उठै आगि औ आवै आँधी । नैन न सूझ मरौ दुख बाँधी ॥

मंक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जायसी ने विरहोद्गार अत्यन्त मर्म स्पर्शी हैं । क्योंकि विरह वेदना में जो कोमलता, गम्भीरता और सरलता इनकी रचना में है, वह बहुत कम कवियों की रचनाओं में मिलता है । नागमती सहानुभूति की जो भावना सभी जीव जन्तुओं में करती है वह विलक्षण है । रानी सोचती है कि उसकी विरहाग्नि के धुएँ से भौंरे और कौवे काले हो गए हैं—

'पिउ सौं कहेहु सँदेसड़ा, हे भौंरा हे काग ।
सो धनि विरहैं जरि मुइ, तेहिक धुँआ हम्ह लाग ॥"

इतना होते हुए भी कहीं-कहीं विरह-वर्णन में वीभात्सता आ गयी है—

"विरह दगध कीन्ह तन भाटी । हाड़ जराइ कीन्ह जस काटी ॥
नैन-नीर सों पोता किया । तस मद चुवा बरा जस दिया ॥
विरह सरागहि भूजै माँसू । गिरि गिरि परै रक्त कै आँसू ॥"

इस विरह-वर्णन में घृणा उत्पन्न होती है, सहानुभूति नहीं । रचना कहीं कहीं अस्वाभाविकता के दोष से दूषित भी हो गयी है—

'बसा लंक बरनै जग झीनी । तेहितें अधिक लंक वह खीनी ॥
परिहँस पियर भए तेहि बसा । लिए डंक लोगन कहँ डसा ॥
मानहुँ नाल खंड दुइ भए । दुहूँ बिच लंक तार रहि गए ॥"

जान पड़ता है कि कटि प्रदेश की सूक्ष्मता के वर्णन में कवि ने आध्यात्मिक तत्व रख देने की चेष्टा की है । क्योंकि बर्रे की कमर अत्यन्त पतली होती है, किंतु पद्मावती की कमर उससे भी पतली है, जिससे बर्रे लजाकर पीली हो गयी और ईर्ष्या के कारण डंक लेकर लोगों को काटती फिरती है । उसकी कमर अत्यन्त क्षीण है जैसे मृणाल के दो टुकड़े हो जाने पर अत्यन्त पतले तारे लगे रहते हैं । इसी प्रकार का दूसरा वर्णन भी नीचे दिया जाता है—

'बरुनी का बरनौं इमि बनी । साधे बान जानु दुइ अनी ॥

जुरी राम रावन कै सेना। बीच समुद्र भए दुइ नैना॥
वारहि पार बनावरि साधा। जासहुँ हेरे लाग विष बाधा॥
उन बानन्ह अस को जो न मारा। बेधि रहा सगरौ संसारा॥
गगन नखत जो जाहिं न गने। वै सब बान ओही के हने॥
धरती बान बेधि सब राखी। साखी ठाढ़ देहिं सब साखी॥
रोंव रोंव मानुस तन ठाढ़े। सूतहि सूत बेध अस गाढ़े॥
बरुनि बान अस ओ पहँ बेधे रन बन ढांख।
सौजहि तन सब रोवाँ पखिहि तन सब पाँख॥"

पद्मिनी का रूप वर्णन सुनकर राजा रत्नसेन का मूर्छित हो जाना, पद्मिनी के सतीत्व का महत्व दिखाने के लिए कुम्भलनेरगढ़ के राजा देवपाल (जो कि रूप गुण, प्रतिष्ठा और ऐश्वर्य आदि किसी में भी रत्नसेन से बढ़कर नहीं है।) का दूती भेजकर पद्मिनी को बहकाने का विफल प्रयत्न करने का वर्णन, (जिसमें कि पद्मावती के सतीत्व पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता) विशेष महत्व नहीं रखते।

इसी प्रकार संयोग के भी प्रसंग में ऐसे ही दोष आ गए हैं—
"मकु पिउ दिस्टि समानेउ सालू। हुलसा पीठि कढ़ावौं सालू॥
कुच तूँबी अब पीठि गड़ोवों। गहे जो हूकि, गाढ़ रस धोवौं॥"

जब बादल ने अपनी नवागता वधू की ओर से दृष्टि फेर ली है, तब उसकी स्त्री सोचती है, "क्या मेरे कटाक्ष तो पति के हृदय को वेधकर पीठि की ओर बाहर तो नहीं निकल आए? यदि ऐसा ही है तो तूँबी लगाकर उसे मैं खींच लूँ और जब वह पीड़ा से चौंक कर मुझे पकड़े तो गहरे रस से उसे धो दूं।" वास्तव में ऐसे वर्णन साहित्य के अन्दर महत्वहीन ही नहीं दोषपूर्ण समझे जाते हैं*।

• इस्लाम धर्म पर जायसी की पूर्ण आस्था थी। इसलिए इन्होंने मसनवियों की प्रेम पद्धति को अपनाया है, किन्तु रचना को सर्वग्राही बनाने के उद्देश्य

---

* देखिए आचार्य शुक्ल कृत त्रिवेणी पृ० ४३।

ने इन्हें हिन्दू लोक-व्यवहार के भाव भी ग्रहण करने पड़े हैं। इस प्रसंग पर यदि थोड़ा कवि के सम्प्रदायगत विचारों पर विचार कर लिया जाय तो ठीक होगा—

जायसी के जीवन-वृत्त पर विद्वानों ने कोई विशेष प्रकाश नहीं डाला है। किन्तु इनका जायस का रहना तो प्रसिद्ध ही है।* ये सैयद मुहीउद्दीन के शिष्य थे, जैसा कि इनके इस पद से ज्ञात पड़ता है कि "गुरु महदी खेवक मैं सेवा। चलै उताइल जेहि कर खेवा॥" (पद्मावती पृ० ८) गणना से चिश्तिया निजामिया की शिष्य परम्परा में ये ग्यारहवें शिष्य ठहरते हैं। जायसी सूफी सिद्धान्तों से भलीभाँति परिचित थे, क्योंकि ये अपने समय के सूफी संतों में विशेष आदर के पात्र थे। इसके अतिरिक्त इन्होंने हिन्दू धर्म व लोक प्रसिद्ध वृत्तान्तों की भी अच्छी जानकारी प्राप्त की थी। यही कारण था, कि जनता की धार्मिक मनोवृत्ति को सन्तुष्ट करने में ये विशेष सफल हुए। बादशाह शेरशाह का इन्होंने आश्रय ग्रहण किया था। 'शेरशाह दिल्ली सुलतानू। चारा खण्ड तपै जस भानू।" इसी का परिचायक है। 'पद्मावती' के आधार पर कि 'एक आँख कवि मुहम्मद गुनी, कहा जाता है कि इन्हें एक ही आँख थी। कुछ समय तक ये गाजीपुर और भोजपुर भी रहे और अन्त में अमेठी राज्य में जाकर रहने लगे। इनकी कब्र अमेठी राज्य में ही है।

इनके समय में हिन्दू जनता के अन्तर्गत राम और कृष्ण की उपासना अधिक लोकप्रिय थी। इन्होंने उसे अपने काव्य की सामग्री न बनाकर प्रचलित सूफी सिद्धान्तों को ही अत्यन्त मनोरंजक और सरल बनाकर जनता की रुचि अपनी ओर आकृष्ट की। वास्तव में हिन्दू वृत्तान्तों के माध्यम से सूफी सिद्धान्तों का प्रचार इन्होंने हिन्दू जनता में करना चाहा। अब तक की लिखी गई (सूफी कवियों द्वारा) प्रेम-कथाएँ कल्पना प्रसूत थीं, किन्तु जायसी ने कल्पना के साथ ही ऐतिहासिक आधार भी ग्रहण कर उसे प्राणवन्त कर दिया

*"जायस नगर धरम स्थानू। तहाँ आइ कवि कीन्ह बखानू॥"—'पद्मावत' पृ० १०।

है। भाषा बोल चाल का अवधी ग्रहण करने से भी कवि को बड़ी सफलता मिल सकी है।

ऊपर हम लिख आए हैं कि भारत म सूफी सतोंने सूफी सिद्धान्त का किस प्रकार प्रचार किया और वेदान्त तथा सूफीमत के मेल से "सामान्यभक्तिमार्ग"का किस प्रकार निर्माण किया गया। कबीर, नानक और दादू आदि सन्त इसी साधना मार्ग पर चले। इसके अतिरिक्त भक्ति (राम और कृष्ण का भक्ति) का मार्ग भी हिन्दू जनता के बीच चला आ रहा था। किन्तु जायसी कबीर से अधिक प्रभावित हुए। क्योंकि हठयोग की समस्त प्रवृत्तियाँ इन्होंने कबीर से ही ग्रहण की हैं। यह 'अखरावट' (जो जायसी की दूसरी रचना है,) में स्पष्ट है कि—
"ना—नारद तब रोइ पुकारा। एक जुलाहे सौं मैं हारा॥"

जायसी बड़े गम्भीर और शास्त्रज्ञ थे, क्योंकि ज्ञान निरूपण में ये बड़े मननशील और सयत हैं। ये मसनवी की शैली म प्रेम कहानी कहते हुए भी अपनी गम्भीरता पर आँच नहीं आने देते। वेदान्त को मानते हुए भी इन्होंने सूफी मत को इस चातुर्य से जनता के बीच रखा कि किसी को ज्ञात न होने पावे कि कवि अपने सूफी मत से प्रभावित करना चाहता है।

सामान्य जनता ने मुसलमानों के एकेश्वरवाद और अद्वैतवाद में कोई विशेष अन्तर न समझा। मध्य युग म यह एकेश्वरवाद भी हिन्दू धर्म म पाया जाता है। गोरखपथी योगियों से योग का प्रचार था ही और इधर शैव सम्प्रदाय के लोग भी योग में विश्वास करते थे, अधिक क्या कहा जाय उस समय का सारा वातावरण ही योगमय हो चुका था अपने इस अति उन्नत काल में आडम्बर के दोष से योग भी दोषग्रस्त हो उठा। इस योग के विरुद्ध आगे चलकर सूर और तुलसी आदि कवियों ने आवाज उठाई। तुलसीदास ने लिखा—"गोरख जगायो जोग भगति भगायो लोग" और मानस में ज्ञान दीपक प्रसग पर भक्ति की विजय योग पर दिखायी। इसी प्रकार सूर ने भी भ्रमरगीतीय रचना के द्वारा योग को भक्ति से महत्त्वहीन घोषित किया। ऊपर लिखा जा चुका है कि सन्त कबीर ने योग को आश्रय दिया। शरीर के अन्तर्गत इडा नाड़ी को यमुना, पिंगला को गगा तथा सुषुम्ना को सरस्वती

आदि कहा—'एहि पार गंगा ओहि पार जमुना, बिचवा में मड़ैया हमारी छवाए जैहो।" इनका कहना था कि इसी शरीर में त्रिवेणी है। सिर में आकाश की स्थिति। इन सन्तों का अटपटी बातों में जनता बड़े कौतूहल में फँस जाती थी। वास्तव में इस समय हिन्दू धार्मिक-भावना के अन्तर्गत सहिष्णुता एवं सम्मिश्रण की भावना बड़ी प्रबल थी। तुलसीदास आदि सन्त स्वय शैव-वैष्णव सबधी समस्याओं में सामञ्जस्य स्थापित करना चाहते थे और आगे चलकर किया भी। राम और कृष्ण एक ही हैं, इसका भी प्रचार हो रहा था। महात्मा कबीर अपने मत में भक्ति और योग दोनों को ग्रहण कर रहे थे। इधर हिन्दू धर्म में रहस्यवादी प्रणयमूला भक्ति भी विद्यमान थी। ग्यारह आसक्तियों में कान्तासक्ति भी एक थी, इसी भाव से गोपियाँ भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति करती थीं।

वास्तव में इस्लाम धर्म में अद्वैतवाद नहीं ग्रहण किया गया था। किन्तु सूफी सन्तों ने एकेश्वरवाद का समर्थन किया था। योग—प्राणायाम आदि भारतीय सूफी-सन्तों में प्रचलित थे। शेख बुरहान का एक प्रसिद्ध योगी होना और दारा शिकोह का 'रिसाला हकनामा' आदि इसके प्रमाण हैं। इस समय के सूफियो में धार्मिक सहिष्णुता तथा सामंजस्य की भावना प्रबल दिखाई पड़ती है—क्योंकि एक मूर्तिपूजक को देखकर (जब वह मूर्तिपूजा कर रहा था) निजामुद्दीन औलिया (जो एक सुप्रसिद्ध सूफी धर्म का प्रचारक था) का कहना—"हर कौम रास्ते राहे, दीने व किबला गाहे" अर्थात् "प्रत्येक जाति का अपना मार्ग, अपना धर्म, और अपना मंदिर होता है।" इस बात का प्रमाण है। जायसी ने भी 'अखरावट' में लिखा है—"बिधिना के मारग हैं तेते। सरग नखत तन रोवाँ जेते।"*

*किन्तु सूफी सन्तों का यह सामंजस्यवादी दृष्टिकोण और सहिष्णु भावना मात्र ऊपरी थी, वास्तविक नहीं। सूफी धर्म की विशेषता और श्रेष्ठता को प्रमाणित करने का माध्यम उदार भावना को ही इन सूफी सन्तों ने बनाया था। यही उनकी सामंजस्यवादी और सहिष्णु भावना का रहस्य था—लेखक।

वास्तव में इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि मुसलमानों ने भारत में आकर देखा कि हिन्दू धर्म जिस पुष्ट दर्शन पर आधारित है, उसकी नींव बहुत ही दृढ़ है, अत: हमारा धर्म इस धर्म की समकक्षता में टिक नहीं सकता। हमारे धर्म और दर्शन की महानता का प्रश्न ही व्यर्थ है जबकि हिन्दू धर्म और दर्शन की समानता में वह आ भी नहीं सकता, तो अधिक हो ही कैसे सकता है। ऐसी परिस्थिति में इस्लाम धर्म की उपेक्षा की दृष्टि से देखनेवाले हिन्दुओं को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए सूफियों ने दूसरे धर्मों की ओर दिखावटी सहिष्णुता का प्रदर्शन कर इस्लाम की विशेषताओं पर प्रकाश डालने की प्रवृत्ति को ग्रहण किया। यह कार्य बड़ा सावधानी का था। यदि हिन्दुओं के समक्ष सब प्रकार से दूसरे दीन की बात ही विशुद्ध ढंग से रखी जाती, तो सूफियों को भय था कि हिन्दू जनता न तो उनके सम्पर्क में ही आवेगी और न उनकी बात ही सुनेगी। अत: सूफियों ने अपने धार्मिक प्रवचन आदि में हिन्दू धर्म में प्रचलित विशेषता का मुसलमानों के लिए प्रयुक्त करना और कुरान को पुरान कहना आदि प्रभावोत्पादक प्रणाली को ग्रहण किया। रहस्यवादी प्रणयमूला भक्ति तो सूफी धर्म का मेरुदण्ड ही है। जिस प्रकार हिन्दू धर्म में गुरु का सम्मान आवश्यक है, उसी प्रकार की भावना सूफियों में भी पायी जाती है।

ऊपर जो थोड़ी-सी धार्मिक चर्चा की गयी है उससे सूफियों के दृष्टिकोण पर थोड़ा प्रकाश पड़ता है। क्योंकि जायसी आदि सूफी सन्त इस वातावरण और भावना से बहुत प्रभावित जान पड़ते हैं। आगे हम इसी पर विचार करेंगे।

हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य की धारा के विषय में अभी तक तीन प्रकार के विचार मिलते हैं—

१—"ये मुसलमान कवि हिन्दू मुसलिम ऐक्य चाहते थे।" यह मत आचार्य श्रीरामचन्द्र शुक्लजी का है।"*

२—"ये कवि सूफी धर्म का प्रचार चाहते थे और इन्होंने लौकिक आख्यानों

*जायसी ग्रन्थावली (१९३५) भूमिका पृ० ३।

के माध्यम से अलौकिक सत्ता तथा रहस्यवादी प्रेम की व्यंजना इन आख्यानों में की है।" "इन्होंने मुसलमान होकर हिन्दुओं की कहानियाँ हिन्दुओं की ही बोली में पूरी सहृदयता से कहकर उनके जीवन की मर्मस्पर्शिनी अवस्थाओं के साथ अपनी उदारता का पूर्ण सामञ्जस्य दिखा दिया। जायसी के लिए जैसा तीर्थ मक्का था, वैसा ही नमाज और रोजा। वे प्रत्येक धर्म के लिए सहिष्णु थे। इन कवियों ने कभी किसी मत के खण्डन की चेष्टा नहीं की।"\

और तीसरा मत डा० कमलकुलश्रेष्ठ का है, वे लिखते हैं—'प्रस्तुत लेखक के दृष्टिकोण से परिस्थिति अपना एक दूसरा रूप प्रेमाख्यानों के द्वारा इस्लाम प्रचार की पृष्ठभूमि तैयार करने का पहलू भी रखती है।* हिन्दी-प्रेमाख्यानक-काव्य में हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य ढूँढ़नेवाले विद्वानों के तर्क निम्नलिखित हो सकते हैं .—

१—इन्होंने हिन्दू कहानी बड़ी सहानुभूति के साथ कही है। २– इन्होंने हिन्दू धर्म की आलोचना नहीं की है। ३—जिन जिन घरों से इनका वास्ता पड़ा है, वे परिवार हिन्दू-मुस्लिम द्वेष से परे पाए गए।

इन तर्कों के निराकरण में डा० श्रीकमलकुल श्रेष्ठ ने निम्नांकित विचार प्रकट किए हैं —

१—'कहानी को सहानुभूतिपूर्वक कहने मात्र से यह नहीं कहा जा सकता कि इन्हें हिन्दू धर्म से सहानुभूति थी। सम्भव है यह सहानुभूति किसी अन्य लक्ष्य को लेकर दिखलायी गयी हो। . . .

२—"इन्होंने मूर्तिपूजा आदि का खण्डन तीव्र शब्दों में किया है।

'वास्तव में ये कवि उन सूफियों के शिष्य होते थे जो इस्लाम के प्रचारक थे . इन कवियों की दृढ़ आस्था इस्लाम पर थी। जायसी ने (जिन्होंने बड़ी सहानुभूति के साथ कहानी कही है) लिखा है—

\ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा एम० ए०, पी० एच० डी० (१९३८) पृ० ३०४५ तथा पृ० ३१०।

* 'हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य" पृ० १५७-८।

'बिधिना के मारग हैं तेते । सरग नखत तन रोवाँ जेते ॥
तेहिमहँ पथ कहो भल गाई । जेहि दूनौ जग छाज बडाइ ॥
सो बड़ पथ मुहम्मद केरा । है सुन्दर कबिलास बसेरा ॥
लिखि पुरान बिधि पठवा साँचा । भा परवान दुहूँ जग बाँचा ॥"

"अर्थात् कुरान दोना जगत म प्रामाणिक ग्रन्थ है । जायसी और भी कहते हैं—"वह मारग जो पावै सो पहुच भव पार । जो भूला होइ अनतहि तेहि लूटा बटमार ॥"

"अर्थात् जो व्यक्ति तो इस्लाम का अवलम्ब ग्रहण करता है, वह तो ससार के पार उतर जाता है और जो लोग दूसरे धर्म को मानते हैं, वे भूलते हैं और माया द्वारा लुट जाते हैं ।" अत यह कैसे कहा जा सकता है कि जायसी सामञ्जस्यवादी थे ।

"जायसी नमाज के सम्बन्ध में कहते हैं —
"ना नमाज है दीनक थूनी । पढे नमाज सोई बड गुनी ॥

"इसी प्रकार इन सूफी कवियो ने कुरान और मुहम्मद पर बडी आस्था दिखाई है ।"

डाक्टर साहब और भी लिखते हैं—

'इन्द्रावती' मे नूरमुहम्मद अपना नायिका इन्द्रावती से कहलाते हैं—
"निसिदिन सुमिरु मुहम्मद नाऊँ । जासो मिले सरग महँ ठाऊँ ॥

*　　*　　*

"साहस देत परान हमारा । अहै रसूल निबाहन हारा ॥"
—"इन्द्रावती"

मूर्ति पूजा के विरोध मे नूरमुहम्मद लिखते हैं—
"का पाहन के पूजे लहई । पूजौ ताहि जो करता अहई ॥
पाहन सुनै न तेरी बातें । सुमिरल जगत करता दिन रातें ॥"
—'इन्द्रावती'

इसी प्रकार जायसी का दृष्टिकोण—
"दीपक लेसि जगत कहँ दीन्हा । भा निरमल जग मारग चीन्हा ॥

जौ न होत अस पुरुष उजियारा । सूझि न परत पथ अँधियारा ॥"
बिना मुहम्मद साहब के नाम स्मरण के विधि जाप भी व्यर्थ है—
'जो भर जनम करै विधि जापा । विनु वोहि नाम होहि सब लापा ॥"
कुरान की महानता तो अधिक है ही—

'जो पुरान विधि पठवा सोइ पढ़त गरथ ।
औ जो भूले आवत सोई लागे पथ ॥"

जायसी मूर्ति पूजा का खण्डन करते हैं—

"पाहन चढ़ि जो चहै भा पारा । सो ऐसे बूड़ै मझधारा ॥
पाहन सेवा कहाँ पसीना । जनम न ओद होइ जो भीना ॥"
बाउर सोइ जो पाहन पूजा । सकत को भार लेइ सिर दूजा ॥"

"इन कवियों ने मुहम्मद साहब और कुरान आदि पर तो बड़ी श्रद्धा दिखाई है। किन्तु जब राम और कृष्ण की बात आती है तो उन्हें ये लैला मजनूं की कोटि में रखते हैं। हिन्दू धर्म में सहानुभूति रखनेवाला व्यक्ति हिन्दुओं की अगाध श्रद्धा के पात्र राम और कृष्ण को इस स्तर पर नहीं ले जा सकता। ये कवि कुरान को पुरान कहते हैं जिसका अर्थ हो सकता है- कि यह सबसे प्राचीन ग्रन्थ होने से आदर का पात्र है और दूसरा यह कि हिन्दुओं के हृदय में कुरान के लिए भी वैसी ही श्रद्धा हो, जैसी श्रद्धा पुराणों के प्रति है। अपने काव्य में ये कवि इस्लाम धर्म की बातें बड़ी सावधानी से कह डालते हैं -

'मुहम्मद सोइ निहचित पथ, जेहि सग मुरसिद पीर ।
जेहि के नाव और खेवक बेगि लाग सो तीर ॥"- (जायसी)

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि वास्तव में इन्हीं कहानियों के माध्यम से इन कवियों ने इस्लाम का तथा और भी कुछ इधर उधर का उपदेश दिया है। इन कहानियों में हिन्दुओं के प्रति जो कुछ भी श्रद्धा दिखलाई पड़ती है, वह मात्र इसलिए कि उनका कहीं भेद न खुल जाय। अपने धर्म की लपेट में लेने के लिए इन कवियों ने हिन्दू-जनता से धार्मिक एवं सांस्कृतिक भावना में सामजस्य रख उनकी सहानुभूति प्राप्त कर लेने का प्रयत्न किया है। इन कवियों ने सूफी धर्म के प्रचार में तात्विक-दृष्टि से सोचा -तर्कों एवं वाद विवाद के बल

पर इस्लाम हिन्दू धर्म के सामने नहीं टिक सकता। यही कारण था जो इन्हें सामजस्य एवं सहिष्णुता का आधार ग्रहण करना पड़ा। अपनी अपना रचनाओं के आरम्भ में इन कवियों ने इस्लाम का प्रचार करनेवालों के प्रति बड़ी श्रद्धा दिखाई है। इनके विचारों मे प्रकट है कि हिन्दू धर्म न तो इस्लाम के समकक्ष है और न कोई महत्वपूर्ण धर्म ही है। वास्तव में इन कवियों की रचनाओं में नैतिक एव एकाध धार्मिक उपदेश मिलते हैं, जिसके आधार पर इन्हें सूफी प्रेममार्गी कह भक्तियुग के निर्गुण-काव्य की दो शाखाओं मे विभक्त करना और इनकी एक दूसरी शाखा में गणना करना महत्वहीन है।

डाक्टर श्रीकमलकुल श्रेष्ठ के विचारों में एक नवीन सन्देश इन सूफी कवियों के सम्बन्ध में प्राप्त होता है। जिसके कारण अब यह कहने का साहस नहीं किया जा सकता कि ये सूफी कवि हिन्दुओं के धर्म मे सहानुभूति रखते थे।

उपर्युक्त विवेचन से जायसी आदि प्रेमाख्यानक काव्यों के कवियों का दार्शनिक भावनाओं पर विचार किया गया। किन्तु अपनी रचनाओं में इन्होंने चाहे हिन्दू धर्म को श्रद्धा की दृष्टि से देखा हो या न देखा हो, चाहे जिस किसी भी मत पर बल दिया हो, उसके प्रकाशन में कहाँ तक सफलता प्राप्त कर सके, अब यह देखना है। क्योंकि साहित्यिक दृष्टिकोण किसी धर्म विशेष पर नहीं आधारित है, वह एक स्वतन्त्र विचार पद्धति है।

जायसी ने 'पद्मावती' की कथा में आध्यात्मिक अभिव्यजना का प्रयास किया है। सम्पूर्ण कथा के पीछे सूफी सिद्धान्तों की रूपरेखा है जैसा कि 'पद्मावत' में नायिका के सौन्दर्य-वर्णन में स्पष्ट जान पड़ता है। 'पद्मावती' के बहाने जायसी ने उस परमसत्ता के सौन्दर्य का वर्णन किया है जिससे बढ़कर सृष्टि की कोई भी वस्तु नहीं हो सकती। कवि ने, यही कारण है कि रूप वर्णन खण्ड में 'पद्मावती' का नाम कहीं नहीं आने दिया है—

"का सिंगार ओहि बरनौ राजा। ओहिक सिंगार ओही पे छाजा ॥"
'महिमडल तौ ऐसि न कोई। ब्रह्म मडल जौं होइत होई ।"

यदि उस परमात्मा की ओर सकेत न होता तो वे यह कदापि न लिखते

कि—ग्रथित वेणी को छोड़ने से केश कलाप को छितराने पर आकाश-पाताल में अंधकार छा जाता है।

"बेनी छोरि झार जौं बारा। सरग पतार होइ अँधियारा॥"

कवि इसी प्रकार कुंडलों का वर्णन करता है—

"स्रवन सीप दुइ दीप सँवारे। कुंडल-कनक रचे उजियारे॥
मनि कुंडल झलकें अति लोने। जनु कौंधा लौकहि दुइ कोने॥
खिन खिन जबहि चीर सिर गहै। काँपति बीजु दुओ दिसि रहै॥"

* * *

इसके अतिरिक्त 'पद्मावती' के चरण देवताओं के हाथों पर पड़ते हैं—

"देवता हाथ हाथ पगु लेहीं। जहँ पगु धरै सीस तहँ देहीं॥
माथ भाग कोउ अस पावा। चरन कमल लै सीस चढ़ावा॥"

इसके बाद भी —

"चूरा चाँद सुरुज उजियारा। पायल बीच करहि झनकारा॥
अनवट बिछिया नखत तराईं। पहुँचि सकै को पायन ताईं॥"

सूर्य, चन्द्र और तारागण उसके चरणों के विभिन्न आभूषण हैं।

इसी प्रकार मानस के भीतर उस प्रियतम के सामीप्य से उत्पन्न कैसे अपरिमित आनन्द की व्यंजना कवि ने की है—

"देखि मानसर रूप सोहावा। हिय हुलास पुरइन होइ छावा॥
गा अँधियार, रैनि मसि छूटी। भा भिनसार, किरिनि रवि फूटी॥
कँवल बिगस तस बिहँसी देहीं। भँवर दसन होइ कै रस लेहीं॥"

रहस्यवाद की मनोहर झलक इस प्रसंग में भी मिलती है। 'पद्मावती' के प्रति रत्नसेन के वाक्य हैं—

"अनु धनि ! तू निसिअर निसि माहाँ। हौं दिनिअर जेहि कै तू छाहाँ॥
चाँदहि कहाँ जोति औ करा। सुरुज के जोति चाँद निरमरा॥"

किन्तु खेद है, इन आध्यात्मिक संकेतों को पूर्णरूप से कवि सारी रचना में नहीं निभा पाया है। क्योंकि सारी कथा का घटनाचक्र आध्यात्मवाद में नहीं मिल सका है।

साहित्य में कवि और काव्य का स्थान—जायसी ने 'पद्मावत' की रचना में हिन्दू-संस्कृति के अन्तर्गत अनेक धार्मिक एवं दार्शनिक विवरण उपस्थित करने का प्रयास किया है, किन्तु ये विवरण अनेक प्रकार से अपूर्ण हैं। रचना में शृंगार वर्णन के अन्तर्गत संयोग तथा वियोग वर्णन उत्कृष्ट है। अलंकारों के वर्णन में उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा आदि का प्रयोग यथास्थान उचित ढंग से किया गया है। पात्रों का चरित्र चित्रण हिन्दू जीवन के आदर्शों से भरा है। इनकी रचना सब मिलाकर काव्य कला का एक उत्कृष्ट नमूना उपस्थित करती है, भाषा और भावों का जहाँ तक प्रश्न है, उसमें कवि को यथेष्ट सफलता प्राप्त हुई है। कवि के कलात्मक कौशल का ऊपर विवरण प्रस्तुत किया जा चुका है, उसे देखते हुए हम कह सकते हैं कि रचना हिन्दी साहित्य की एक गणनीय वस्तु है और वही स्थान हिन्दी के क्षेत्र में कवि का भी है।

भाषा और उस पर अधिकार—प्रायः प्रेम काव्य की सभी रचनाएँ अवधी भाषा में हुई हैं। विद्वानों का मत है कि अवधी भाषा के प्रथम कवि खुसरो थे। इन्होंने ब्रजभाषा के साथ सबसे पहले अवधी में भी काव्य रचना की, यद्यपि उनका दृष्टिकोण पहेलियों तक ही सीमित था। कवि खुसरो के समय में ही हिन्दी-साहित्य में काव्य की दो ही प्रमुख भाषाएँ थीं, पहली अवधी और दूसरी ब्रजभाषा। इन दोनों भाषाओं के आदर्श अलग अलग थे। अवधी में रचना करनेवाले कवियों ने दोहे और चौपाई छन्दों को अपनाया और ब्रजभाषा में सवैया, पद और कवित्त आदि छन्दों को।

तो इन प्रेमाख्यानक-काव्यों के कवियों को अवधी भाषा के प्रयोग में कितनी सफलता प्राप्त हुई है? यदि विचार किया जाय तो प्रेम काव्य में जो अवधी भाषा प्रयुक्त हुई है, वह बहुत सरल और स्वाभाविक है। वह जन समाज की बोली के रूप में है। संस्कृत की क्लिष्ट शब्दावली का प्रयोग इन कवियों ने नहीं किया है।

रस—रस की दृष्टि से प्रेमकाव्य शृंगार रस प्रधान रचनाएँ हैं। शृंगार रस के अन्तर्गत जहाँ सूफीमत की प्रधानता है, वह वियोग-पक्ष के प्रतिपादन में अधिक सुन्दर रचना है। शृंगार के अतिरिक्त दूसरे रसों का भी प्रयोग कवियों

ने कथावस्तु की मनोरंजकता बनाने के लिए किया है। किन्तु कहा कहीं शृंगार रस के साथ-साथ वीभत्स रस के आ जाने से शास्त्रीय दृष्टि से प्रेम-काव्य में रस दोष आ जाता है।

विशेषता--हिन्दी-साहित्य में इन प्रेमाख्यानक-काव्यों के माध्यम से कथा साहित्य का बहुत कुछ विकास हुआ। हिन्दू मुसलमान दोनों ने अपने आदर्श और गृहजीवन के सिद्धान्तों से प्रेम-काव्य का सर्जन किया है। धर्म का जहाँ तक दृष्टिकोण है, वह हिन्दुओं के वेदान्त और सूफी धर्म के सिद्धान्तों में बहुत कुछ समानता है। आचार्य श्रीरामचन्द्र शुक्ल ने जायसी ग्रन्थावली में लिखा है— "हिन्दी में चरित-काव्य बहुत थोड़े हैं। ब्रजभाषा में तो कोई ऐसा चरित काव्य नहीं, जिसने जनता के बीच प्रसिद्धि प्राप्त की हो। पुरानी हिन्दी के 'पृथ्वीराज रासो', 'बीसलदेव रासो', 'हम्मीररासो' आदि वीर गाथाओं के पीछे चरित काव्य की परम्परा हमें अवधी भाषा ही में मिलती है। ब्रजभाषा में केवल ब्रजवासीदास के 'ब्रजविलास' का कुछ प्रचार कृष्णभक्तों में हुआ, शेष 'रामरसायन' आदि जो दो-एक प्रबन्ध काव्य लिखे गए, वे जनता को कुछ भी आकर्षित नहीं कर सके। 'केशव' की 'रामचन्द्रिका' का काव्य प्रेमियों में आदर रहा, पर उसमें प्रबन्ध काव्य के वे गुण नहीं हैं, जो होने चाहिएँ। चरित-काव्य में अवधी भाषा को ही सफलता प्राप्त हुई और अवधी भाषा के सर्वश्रेष्ठ रत्न हैं 'रामचरित मानस' और 'पद्मावत'। इस दृष्टि से हिन्दी-साहित्य में हम जायसी के उच्च स्थान का अनुमान कर सकते हैं।

— ———

२—सगुण-धारा

१—राम-भक्ति शाखा या राम-काव्य

२—कृष्ण-भक्ति शाखा या कृष्ण-काव्य

१—राम-भक्ति शाखा या राम-काव्य

(क) काल और परिस्थिति का प्रभाव तथा मूलस्रोत--(रामभक्ति का परम्परा) जिस रामभक्ति का प्रचार उत्तरी भारत में स्वामी रामानन्द और महात्मा तुलसीदास आदि मनीषियों द्वारा हुआ, उसकी परम्परा कब से चली, इसका निर्णय किसी निश्चित तिथि से करना तो असम्भव ही है। किन्तु थोड़ी बहुत उपलब्ध सामग्री के आधार पर कुछ विचार कर लेना आवश्यक है।

यद्यपि गोस्वामी तुलसीदास ने इस प्रश्न का उत्तर 'मानस' में दे दिया है कि राम का चरित्र वेद में वर्णित है :--

"सबरी गीध सुसेवकनि, सुगति दीन्हि रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल वेद विदित गुन गाथ॥"

* * *

"राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी। मति हमार अस सुनहिं सयानी॥
तदपि सन्त मुनि वेद पुराना। जस कछु कहहिं स्वमति अनुमाना॥"

राम तक ही नहीं, कवि राम के पिता दशरथजी तक का वेद में नामो उल्लेख की घोषणा करता है .--

"अवधपुरी रघुकुलमनि राऊ। वेद विदित तेहि दशरथ नाऊँ॥"

यदि कहा जाय कि वेद में जिस परमसत्ता का ओर सकेत किया गया है, उसी का सारा ऐश्वर्य तुलसी ने रामचन्द्र में आरोपित किया है और वेद में 'राम' नामात्मक ईश्वर की चर्चा नहीं है, बल्कि निर्गुणात्मक ईश्वर की चर्चा है। तो इसका भी स्पष्टीकरण तुलसी के शब्दों में सुनिए '--

"बन्दउँ नाम राम रघुबर को। हेतु कृसानु भानु हिमकर को॥
बिधि हरि हरमय वेद प्रान सो। अगुन अनूपम गुन निधान सो॥"
--"मानस"

इतना ही नहीं, वेद म शत्रुघ्न आदि का भी नाम आया है। देखिए कवि के शब्दों म

'जाके सुमिरन त रिपुनासा। नाम शत्रुहन वेद प्रकासा॥"

— "मानस"

यदि ऊपरोल्लिखित उद्धरणों के अनुसार राम का महत्व वेद मे ही माना जाय तो यह कहना "कि राम का महत्व प्रथम हम 'वाल्मीकि रामायण' में मिलता है जिसकी तिथि ईसा के ६०० या ८०० वर्ष पूर्व मानी जाती है ✕।" न्यायसगत नहा।

डाक्टर श्रीरामकुमार वर्मा ('एन आउटलाइन ऑव् दि रिलीजस लिटरेचर ऑव इंडिया पृ० ८ जे० एन० फरकुहार' के आधार पर) लिखते हैं*—"वाल्मीकि के प्रथम और सप्तम काण्ड तो प्रक्षिप्त माने गए हैं, पर द्वितीय से षष्ठ काण्ड तो मौलिक और प्रामाणिक हैं। यद्यपि उनकी वास्तविकता म कहीं कहीं सन्देह है, पर अधिकतर उनका रूप विकृत नहीं होने पाया है। 'वाल्मीकि रामायण' का दृष्टिकोण लौकिक है। इसकी यह सबसे बड़ी विशेषता है क्योंकि इसके द्वारा ही हम धर्म के यथार्थ रूप का परिचय पा सकते हैं। ग्रन्थ धार्मिक न होने के कारण अन्धविश्वास और भावोन्मेष से रहित है, अतः इसम हम लौकिक दृष्टिकोण से धर्म का रूप पा सकते हैं। राम प्रारम्भ से लेकर अन्त तक मनुष्य ही हैं, उनम देवत्व की छाया भी नहा है। वे एक महापुरुष अवश्य हैं पर अवतार नहीं। 'वाल्मीकि रामायण' म वैदिक देवता ही मान्य हैं, जिनम इन्द्र का स्थान अवश्य कुछ ऊँचा है। इनके सिवाय कुछ अन्य देवी और देवता भी हैं, जिनम कार्तिकेय और कुबेर तथा लक्ष्मी और उमा मुख्य हैं। विष्णु और शिव का भी स्थान महत्वपूर्ण है, लेकिन उतना ही जितना ऋग्वेद म है। अत "वाल्मीकि रामायण" म विष्णु और राम का कोई सम्बन्ध नहीं है और न राम अवतार रूप में ही हैं। वे केवल मनुष्य हैं, महात्मा हैं, धीरोदात्त

✕ डा० श्री रामकुमार वर्मा एम० ए०, पी० एच० डी०—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ० ३३३। * वही पृ० ३३३।

नायक हैं।

'ईसा के दो सौ वर्ष पूर्व राम अवतार के रूप में माने जाते हैं। इस समय मौर्यवंश का विनाश हो गया था। उसके स्थान पर सुगवंश की स्थापना हो गई था। बौद्धधर्म विकास पर था। इसी समय बुद्ध ईश्वरत्व के गुणों से विभूषित होने लगे थे। बौधमत में वे नवीन शक्तियों से संयुक्त भगवान के पद पर आरूढ होने जा रहे थे, सम्भव है बौद्धधर्म की इस नवीन प्रगति ने राम को भी देवत्व के स्थान पर आरूढ कर दिया हो। इस समय 'वायुपुराण' में राम की भावना विष्णु के अवतारों में मानी गयी। उसमें राम ईश्वरत्व के पद पर अधिष्ठित होते हैं। 'वायुपुराण' का रचना काल संदिग्ध है। उसका रचना कुछ इतिहासज्ञों द्वारा ईसा के ५०० वर्ष पूर्व भी माना गयी है (एनसाइक्लोपीडिया ऑव् रिलीजन एण्ड एथिक्स, भाग १०, पृ० ५७१,— जो हो, 'वायुपुराण' अधिक अंशों में बौद्धमत की भावना से अवश्य प्रभावित हुआ।

"वाल्मीकि रामायण' के प्रक्षिप्त अंशों में ब्रह्मा, विष्णु और महेश देवों के रूप में समान प्रकार से मान्य हैं और राम अंशत विष्णु के अवतार हैं। इन्द्र के अनेक गुण विष्णु में स्थापित हो गए हैं और वे अब अपनी शक्ति का विस्तार कर रहे हैं। राम के रूप में विष्णु की उपासना का क्षेत्र विस्तृत हो गया, क्योंकि देव-पूजा के साथ-साथ वीर-पूजा की भावना भी हिन्दू धर्म के अन्तर्गत आ गई।

"ईसा के दो सौ वर्ष बाद 'महाभारत' में 'अनुगीता' के अन्तर्गत विष्णु के अवतारों की मीमांसा की गई। उसमें विष्णु के छ अवतार माने गए हैं :— वाराह, नृसिंह, वामन, मत्स्य, राम और कृष्ण। 'मानव धर्म शास्त्र' के अन्तर्गत मोक्ष धर्म के एक विशेष भाग का नाम 'नारायणीय' है जिसमें वैष्णव धर्म का विकास और भी हुआ है। उसमें विष्णु का विकास 'व्यूह' के रूप में हुआ है। इस प्रकार विष्णु संकर्षण के रूप में चतुर्व्यूहियों का वेश धारण करते हैं। इसमें वासुदेव के साथ साथ सात्वत और पंचरात्र नाम भी इस वैष्णवमत के लिए प्रयुक्त हुए हैं। 'नारायणीय' में विष्णु के अवतारों की संख्या छ से बढ़कर दस हो गया है। 'नारायणीय' के बाद 'संहिता' में भक्ति का सम्बन्ध भी

विष्णु से हो गया (एन आउट लाइन ऑव दि रिलीजस लिटरेचर, पृ० १८४— जे० एन० फरकुहार)- राम भक्ति में इस शक्ति ने सीता का रूप धारण किया। राम का पूर्णरूप गुप्तकाल में ही निर्मित हुआ जब 'विष्णु पुराण' (ई० सन् ४००) की रचना हुई। ईसा की छठी शताब्दी के बाद राम की भक्ति का विकास 'रामपूर्व तापनीय उपनिषद' और 'राम उत्तर तापनीय उपनिषद' में हुआ, जहाँ राम ब्रह्म के अवतार माने गए हैं। जिस ब्रह्म के वे अवतार हैं उसका नाम विष्णु है। इसके बाद ही 'अगस्त्य सुतीक्ष्ण सम्वाद-संहिता' में राम का महत्व आलौकिक रूप में घोषित किया गया है। आगे चलकर अध्यात्म रामायण में राम देवत्व के सबसे ऊँचे शिखर पर आ गए हैं। उनकी महिमा का विस्तृत विवरण ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में 'भागवत पुराण' द्वारा प्रचारित हुआ। इस प्रकार ग्यारहवीं शताब्दी तक राम के रूप में परिवर्द्धन होता रहा। इसी समय राम भक्ति ने एक सम्प्रदाय का रूप धारण किया—(वैष्णविज्म, शैविज्म एंड माइनर रिलीजस सिस्टम्स, पृष्ठ ४७ —(सर आर० जी० भंडारकर)— रामानन्द ने चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में इसी राम मत का प्रचार उत्तर-भारत में जाति बन्धन को ढीला कर सर्वसाधारण में किया। इस रामभक्ति का प्रचार तुलसीदास की रचनाओं द्वारा चिरस्थायी जीवन और साहित्य का एक अंग बन गया।" *

उपर्युक्त विवरण के अनुसार डाक्टर रामकुमार वर्मा ने राम भक्ति परम्परा का जो मत दिया है, उसके समय निर्धारण के सम्बन्ध में कुछ प्रमाण और भी उपलब्ध हुए हैं, जो पाठकों के समक्ष वे भी उपस्थित किए जा रहे हैं। सर्व प्रथम 'भागवत पुराण' के रचनाकाल के सम्बन्ध में विचार कर लिया जाय, किन विद्वानों की खोज के आधार पर डाक्टर साहब ने ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ की रचना मानी है।

श्रीमद्भागवत महापुराण के रचयिता और रचना तिथि के सम्बन्ध में मान्य

---

* डा० रामकुमार वर्मा कृत 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास'

आगे द्विवेदीजी लिखते हैं "वेदों के विभाजन करनेवाले व्यासजी (जिनकी उत्पत्ति महर्षि पराशर के द्वारा सत्यवती से हुई) ही वेदों के वर्त्तमान स्वरूप के सम्पादकर्त्ता हैं। महाभारत और अठारह पुराणों के कर्त्ता यही वेदव्यास हैं। अठारह पुराणों के नाम प्रायः प्रत्येक पुराण में आते हैं अठारह पुराणों के नाम निम्नांकित हैं- ब्रह्मपुराण, पद्मपुराण, विष्णुपुराण, शिव पुराण, भागवतपुराण, नारदीयपुराण, मार्कण्डेयपुराण, आग्नेयपुराण, भविष्य पुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण, लिंगपुराण, वाराहपुराण, स्कन्दपुराण, वामनपुराण कूर्मपुराण, मत्स्यपुराण, गरुड़पुराण और ब्रह्माण्डपुराण। इनके अतिरिक्त और भी बहुत से पुराण और उपपुराण प्राप्त होते हैं। कई पुराण तो दो-दो प्राप्त होते हैं। स्कन्दपुराण एक संहितात्मक है और दूसरा, खण्डात्मक। दोनों ही व्यासकृत हैं। एक पुराण है और एक उपपुराण। वैसे ही श्रीमद्भागवत भी दो प्रकार के प्राप्त होते हैं--एक भागवत और दूसरा देवीभागवत। इनमें से महापुराणान्तर्गत कौन भागवत है, यह विचारणीय प्रश्न है। देवीभागवत के पक्ष में पाँच बातें कही जाती हैं—

"१—महाभारत निर्माण के पूर्व ही अष्टादश पुराणों की रचना हो चुकी थी, ऐसा वर्णन मिलता है। (अष्टादश पुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुतः। भारता ख्यानमखिलं चक्रे तदुप बृंहितम् ॥--स्क० पु०) तथा--(अष्टादश पुराणानि अष्टौ व्याकरणानिच। ज्ञात्वा सत्यवती सूनुश्चक्रे भारत संहिताम् ॥--म० पु०) भागवत की रचना महाभारत के पश्चात् हुई, जैसा कि भागवत में लिखा है तब भागवत व्यासरचित होने पर भी महापुराण कैसे हो सकता है?

"२—श्रीमद्भागवत के टीकाकारों ने भागवत के स्वरूप का निर्णय करने के लिए प्रथम श्लोक की व्याख्या में जो वचन उद्धृत किए हैं, वे देवी भागवत पर पूर्णतः घट जाते हैं और श्रीमद्भागवत पर नहीं घटते। इसलिए देवीभागवत ही 'भागवत' शब्द का वाच्यार्थ है।

"३—मत्स्यपुराण में जहाँ पुराणों के दान का प्रसंग आया है, वहाँ भागवत के साथ हेमसिंह के दान की भी आज्ञा है। सिंह के साथ देवीभागवत का

भागवत है।

"४—व्यास रचित महाभारत, विष्णुपुराण, स्कन्दपुराण आदि ग्रन्थों में जैसे द्राक्षापाक, वैशिकीवृत्ति और सरल भाषा का प्रयोग हुआ है वैसा देवी भागवत में तो है, परन्तु श्रीमद्भागवत में ठीक उसके विपरीत नारिकेलपाक, आरभटी आदि वृत्ति और कठोर भाषा का प्रयोग हुआ है। इसलिए श्रीमद् भागवत किसी अन्य की रचना है और देवीभागवत वेदव्यास की।

"५—ईसा की तेरहवीं सदी में वैद्यवर केशव के पुत्र, श्रीधनेश मिश्रजी के शिष्य, देवगिरिनरेश महाराज महादेव के सभापण्डित पण्डितराज श्रीवोपदेव ने राजमन्त्री श्रीहेमाद्रि को सन्तुष्ट करने के लिए श्रीमद्भागवत की रचना की। यह सर्वथा स्वतन्त्र उनकी रचना है, इसे महापुराणों में स्थान नहीं मिलना चाहिए। इसका खण्डन हो जाने पर देवीभागवत स्वत ही महापुराण सिद्ध हो जाता है।

"अब इन आपत्तियों पर क्रमशः विचार किया जाता है। १—वर्तमान काल में जो अष्टादश पर्व का महाभारत उपलब्ध होता है, वह भगवान व्यास के बनाए हुए महाभारत का संक्षिप्त रूप है। भगवान् व्यास ने पहले सौ पर्वों का महाभारत बनाया था। पूर्ण हो जाने पर उन्होंने ऐसा सोचा कि वेद और ब्रह्म सूत्रों में द्विजेतरों का अधिकार नहीं है—ऐसा विचार करके मैंने इस सौ पर्व वाली संहिता का निर्माण स्त्री, शूद्र और ब्राह्मणबन्धुओं के लिए किया था। परन्तु यह इतनी बृहत् और गम्भीर हो गयी सम्भव है उनके लिए उपयोगी न हो। इसलिए व्यासदेव अपने दो शिष्य जेमिनि और वैशम्पायन को बुलाकर कहा कि तुम इस सौ पर्व के महाभारत के रूप में संक्षेप कर दो। "एतत् पर्वशतं पूर्ण व्यासेनोक्त महात्मना। ततस्तु सूतपुत्रेण रौमहर्षणिनापुरा॥ कथितं नैमिषारण्ये पर्वाण्यष्टादशैव तु'॥"

'जैमिनिकृत महाभारत का केवल जैमिनीयाश्वमेध ही प्रचलित है। शेष भाग सुलभ नहीं है। वैशम्पायनकृत महाभारत ही आजकल उपलब्ध होता है। 'समासो भारतस्यायम्' इस उक्ति से तो यह बात बहुत ही स्पष्ट हो जाती है। अष्टादश पर्वात्मक महाभारत के पूर्व अष्टादश पुराणों का निर्माण हो चुका था,

"२ श्रीमद्भागवत में निम्नलिखित लक्षण पुराणों में मिलते हैं—
'यत्राधिकृत्य गायत्रीं वर्ण्यते धर्म विस्तरः ।
वृत्रासुरवधोपेतं तद् भागवतमिष्यते ॥'' – (मत्स्यपुराण,
'ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रो द्वादशस्कन्ध सम्मितः ।
हयग्रीव ब्रह्मविद्या यत्र वृत्र वधस्तथा ॥
गायत्र्या च समारम्भस्तद् वै भागवतं विदुः ।' (स्कन्दपुराण)
'अम्बरीष शुकप्रोक्तं नित्य भागवतं शृणु ।
पठस्व स्वमुखेनापि यदीच्छसि भवक्षयम ॥' –(पद्मपुराण)।
'अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां भारतार्थ विनिर्णयः ।
गायत्री भाष्यरूपोऽसौ वेदार्थ परिबृंहितः ॥
पुराणानां साररूपः साक्षाद भगवतोदितः ।
द्वादशस्कन्ध संयुक्तः शतविच्छेद संयुतः ॥
ग्रन्थोऽष्टादश साहस्रः श्रीमद्भागवताभिधः ॥'– (गरुड़पुराण)

'जिस पुराण में गायत्री के द्वारा धर्म का विस्तार और वृत्रासुर के वध का वर्णन हो, उसका नाम भागवत है ।' (श्रीमद्भागवत के प्रथम पद्य में ही गायत्री का पूरा वर्णन है ।)

'बारह स्कन्ध' अठारह हजार श्लोकवाला ग्रन्थ –जिसमें हयग्रीव चरित, ब्रह्मविद्या, वृत्रासुर वध का वर्णन है और गायत्री से जिसका प्रारंभ हुआ है— उसका नाम भागवत है ।'

'हे अम्बरीष ! यदि तुम्हारी इच्छा है कि मैं संसार से मुक्त हो जाऊँ, तो तुम प्रतिदिन शुकोक्त भागवत का श्रवण करो अथवा अपने आप ही पठन करो ।'

'यह ब्रह्मसूत्रों का अर्थ है, महाभारत का तात्पर्य निर्णय है, गायत्री का भाष्य है और समस्त वेदों के अर्थ को धारण करनेवाला है । समस्त पुराणों का सार रूप है, साक्षात श्रीशुकदेवजी द्वारा कहा हुआ है, इसमें सौ विश्राम हैं, अठारह हजार श्लोकों का यह श्रीमद्भागवत नामक ग्रन्थ है ।'

ये सब के सब लक्षण श्रीमद्भागवत में घट जाते हैं । 'श्रीमद्भागवत ने

पहले और अन्तिम श्लोक में गायत्री का सार आ गया है।"

"इसी प्रकार नारदीय महापुराण में जहाँ सभी पुराणों की अनुक्रमणिका लिखी गयी है, वहाँ श्रीमद्भागवत की अनुक्रमणिका पूर्णरूप में प्राप्त होती है। इसी प्रकार दूसरे पुराणों में भी इसका स्पष्ट वर्णन मिलता है। 'पद्मपुराण' में तो स्पष्ट लिखा है कि –

"दशसप्त पुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुतः।
नाप्तवान्मनसस्तोषं भारतेनापि भामिनि ॥
चकार संहितामेतां श्रीमद्भागवतीं पराम् ।"—(पद्मपुराण)

अर्थात् 'सत्यवतीनन्दन व्यास ने महाभारत और सत्रह पुराणों की रचना की, फिर भी उन्हें शान्ति न मिली; तब उन्होंने श्रीमद्भागवत की रचना की।'

"इसके अतिरिक्त पद्मपुराण में श्रीमद्भागवत के माहात्म्य के प्रसंग में वर्णन आता है कि जब भागवत की कथा होने लगी तब वेद, वेदान्त, मन्त्र-तन्त्र संहिता, सत्रहों पुराण और हजारों ग्रन्थ उपस्थित हुए।* ऐसी स्थिति में अठारहवाँ पुराण यदि श्रीमद्भागवत न गिना गया होता तो इस प्रसंग पर सत्रह ही पुराणों की चर्चा न होती, बल्कि अठारहों पुराण लिखा गया होता। अतः अठारहवें पुराण की अनुपस्थिति से पता चलता है कि वह पुराण श्रीमद्भागवत ही है, जिसकी कि कथा हो रही थी और वह गिना न गया था।

"३— श्रीमद्भागवत के प्रसंग में कहा गया है—

"लिखित्वा तच्च यो दद्याद्धेम सिंहसमन्वितम्।
प्रौष्ठ पद्यां पौर्णमास्यां स याति परमं पदम् ॥"— (मत्स्यपुराण)

"इसका भाव है कि सोने के सिंहासन पर स्थापित करके श्रीमद्भागवत का दान करने से परमपद की प्राप्ति होती है। मूल में 'हेमसिंह' शब्द है, 'सिंहासन' शब्द नहीं है। इससे कई लोग सोचते हैं कि देवी का वाहन सिंह है,

*"वेदान्तानि च वेदाश्च मन्त्रास्तन्त्राणि संहिता।
दशसप्तपुराणानि सहस्राणि तदाऽऽययुः ॥"—(पद्मपुराण भागवत

इसलिए यहाँ सिंह के सम्बन्ध में देवीभागवत का ही भाव ग्रहण होना चाहिए। परन्तु 'सिंह' शब्द से सिंहासन लेना ही उपयुक्त है, क्योंकि किसी भी पुराण के पीठ को सिंहासन कहा जाता है। यदि यह बात न मानी जाय, तो शास्त्रों में भगवान के सिंहासन का भी वर्णन आया है। अत्रि प्रोक्त कारिका ग्रन्थ तथा मैत्रायण प्रोक्त कारिका ग्रन्थ में भगवान के दश अर्चावतारों के लिए दश प्रकार के वाहनों का वर्णन आया है, जिनमें दूसरा वाहन सिंह है। पञ्चरात्रागम एवं भृगु प्रोक्त वैखानस दैनिक यज्ञाधिकार के उत्सव-प्रकरण में विष्णु भगवान के हंस, सिंह, हनुमान्, शेष, गरुड़, दन्तावल, रथ, अश्व, शिविका और पुष्पक इन दश वाहनों का वर्णन प्राप्त होता है। —(अथ विष्णोर्वाहनानि व्याख्यास्यामः—प्रथमे हंसो द्वितीये सिंहस्तृतीयेहनूमांश्चतुर्थे पर्यायन्ति- पञ्चमे वैनतेयष्षष्ठे दन्तावलस्सप्तमे रथोऽष्टमे तुरङ्गमो नवमे शिविका दशमे पुष्पकमिति।) इसलिए 'हेमसिंह' शब्द देखकर ऐसी कल्पना नहीं करनी चाहिए कि यह लक्षण श्रीमद्भागवत का नहीं देवी भागवत का है। इसके अतिरिक्त श्रीमद्भागवत के बारहवें स्कन्ध के अन्तिम अध्याय में भी हेमसिंह पर स्थापित करके श्रीमद्भागवत के दान का वर्णन आता है। (प्रौष्ठ पद्यां पौर्णमास्यां हेमसिंह समन्वितम्। ददाति यो भागवतं स याति परमांगतिम्।—श्लोक १३, अध्याय अंतिम श्रीमद्भागवत स्कन्ध १२)।

'८—भाषा-तत्त्व कोविद आचार्यों ने पाक, वृत्ति, शय्या, रीति आदि के अनेक लक्षण बतलाए हैं—जिनका विस्तार भय से यहाँ वर्णन नहीं किया जाता है।

"वास्तव में ब्रह्मसूत्र और भागवत की भाषा में इतना साम्य है कि कई स्थान पर तो अनेक सूत्र ज्यों-के त्यों भागवत में मिलते हैं। अचिन्त्यमहाप्रभु ने श्रीमद्भागवत को ब्रह्मसूत्रों का भाष्य मानकर जैसा कि गरुड़पुराण में लिखा है, और किसी भाष्य की रचना नहीं की। इसलिए भाषा की दृष्टि से भागवत को अन्य कर्तृक मानना उचित नहीं है।

"केवल वदव्यास के ही ग्रन्थों में भाषा की भिन्नता हो, ऐसी बात नहीं, अब तक जितने भी संस्कृत साहित्य में विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न पुरुष हुए हैं,

ने समय समय पर भिन्न भिन्न प्रकार की भाषाओं में अपने भाव प्रकट किए हैं। तत्त्वबोध, आत्मबोध, विवेक चूड़ामणि, अपरोक्षानुभूति, प्रबोध सुधाकर आदि सरल ग्रन्थों के लिखनेवाले, आचार्य शंकर ब्रह्मसूत्रों के भाष्य में ऐसा कठिन भाषा लिख सकते हैं साधारण लोग इसका अनुमान भी नहीं लगा सकते। इसी प्रकार महाकवि कालिदास की कृतियों —रघुवंश तथा मेघदूत में भी भाषा का विलक्षण भेद दिखाई पड़ता है।'

"५. भागवत का रचनाकाल बोपदेव से बहुत पहले का है और इसके रचयिता स्वयं भगवान् वेदव्यासजी हैं।"

भागवत के रचनाकाल के सम्बन्ध में नीचे कुछ प्रमाण दिए जा रहे हैं —

बोपदेव का समय तेरहवीं शताब्दी है, ऐसा निश्चित हो चुका है; क्योंकि देवगिरि के यादव राजा महादेव का शासनकाल सन् १२६० ई० से सन् १२७१ ई० तक माना गया है और सन् १२७१ ई० से सन् १३०६ ई० तक रामचन्द्र नामक राजा वहाँ रहे हैं। उनके समस्त करणाधिपति और मंत्री थे— हेमाद्रि और हेमाद्रि की प्रसन्नता के लिए ही कविराज श्रीबोपदेव ने अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। व्याकरण के दस वैद्यक के नौ, तिथि निर्णय का एक साहित्य के तीन और भागवततत्त्व के तीन। भागवततत्त्व का वर्णन करने के लिए बोपदेव ने जिन तीन ग्रन्थों की रचना की उनके नाम हैं—'परमहंस प्रिया', 'हरिलीलामृत' और 'मुक्ताफल'। जिनमें से 'हरि लीलामृत और 'मुक्ताफल' का प्रकाशन हुआ है। 'मुक्ताफल' की टीका में जो कि हेमाद्रि द्वारा ही रचित है, लिखा है कि बोपदेव ने इन इन ग्रन्थों की रचना की है :—

> 'यस्य व्याकरणे वरेण्य घटना स्फीता प्रबन्धा दश
> प्रख्याता नव वैद्यकेऽपि तिथि निर्धारार्थमेकोऽद्भुत ।
> साहित्ये त्रय एव भागवततत्त्वोक्तौ त्रयस्तस्य च
> भूगीर्वाणशिरोमणेरिह गुणा के के न लोकोत्तरा ॥'

'हरिलीलामृत' का ही दूसरा नाम "भागवतानुक्रमणिका" है। यदि बोपदेव ने श्रीमद्भागवत की रचना की होती तो हेमाद्रि बोपदेव कृत ग्रन्थों में

प्रसंग में उसकी भी चर्चा करते; क्योंकि यह उनकी कला की दृष्टि से उत्कृष्ट रचना होती। इसे वे भुला ही कैसे सकते थे। किन्तु सच तो यह है कि चन्द्र भागवन्माला ने प्रत्येक अध्याय का सार एक-एक श्लोक का किया है और उस 'भागवत-मञ्जरी' नामक ग्रन्थ में संक्षिप्त रूप से समग्र भागवत का सारांश दे दिया गया है। वैसे ही बोपदेव ने 'हरिलीलामृत' में सारे भागवत का सारांश दे दिया है। उसी के दो चार स्फुट श्लोकों को पढ़कर कुछ लोगों ने धारणा बना ली कि 'भागवत' श्रीबोपदेव की रचना है, जो कि उक्त ग्रन्थ और उस पर लिखी गयी हेमाद्रिकृत 'कैवल्य दीपिका' नामक टीका को न देखने से हुई है। दूसरी बात यह भी है कि हेमाद्रि ने 'चतुर्वर्ग चिन्तामणि' और 'दान खण्ड' में भी 'भागवत' के वचनों को उद्धृत किया है। यदि 'भागवत' बोपदेव कृत होती तो व्रत निर्णय के प्रसंग में हेमाद्रि उसका उद्धरण न देते। इसके अतिरिक्त कुछ और भी प्रमाण दिए जा रहे हैं कि बोपदेव के आविर्भाव काल में ही यह नहीं बल्कि 'भागवत' बहुत ही प्राचीन काल की रचना है :—

१—मध्वाचार्य का जन्म ईसा की बारहवीं शताब्दी के अन्त में अर्थात् सन् ११९९ में हुआ था और बोपदेव का समय तेरहवीं शताब्दी का अन्तिम भाग है अर्थात् मध्वाचार्य बोपदेव से सैकड़ों वर्ष पूर्व हुए थे। श्रीमध्वाचार्य ने 'भागवत' पर एक टीका लिखी है, जिसका नाम है—'भागवत-तात्पर्य निर्णय'। अतः सिद्ध है कि मध्वाचार्य से पहले भागवत की रचना हो चुकी थी, यदि ऐसा न होता तो उसकी वे टीका कहाँ से लिखते? मध्वाचार्य ने ही सर्वप्रथम टीका लिखी हो, सो बात भी नहीं, क्योंकि उनकी टीका में अनेक पूर्ववर्ती टीकाकारों के नाम भी आए हैं, जिनके मुख्य नाम हैं—श्रीहनुमान्, आचार्य शंकर और चित्सुखाचार्य। उन्होंने गीता की टीका में भी 'नारायणाष्टकाक्षरकल्प' से एक उद्धरण दिया है, जिसमें भागवत को पंचम वेद कहा गया है।

२—श्रीसम्प्रदाय के प्रधान आचार्य, स्वामी श्रीरामानुजाचार्य ने अपने 'वेदान्त-तत्वसार' में भागवत का नाम लेकर अनेक वचन उद्धृत किये हैं, जो मध्वाचार्य से पहले के हैं। क्योंकि आचार्य रामानुज का जन्म सन् १०१७ ई०

में हुआ था। ग्यारहवीं शताब्दी ही इनका मुख्य कार्य-काल है। 'वेदस्तुति' जिसमें कि दशम स्कन्ध के ८७वें अध्याय के और एकादश स्कन्ध के नाम से इन्होंने भागवत के वचन उद्‌धृत किए हैं। रामानुजाचार्य ने अपने 'वेदार्थ-संग्रह' नामक निबन्ध में सात्विक पुराणों में श्रीमद्‌भागवत की गणना की है और अठारह हजार श्लोक-संख्या का भी उल्लेख किया है।

३—हेमाद्रि ने, जो कि बोपदेव के समकालीन थे, भागवत के टीकाकार के रूप में श्रीधर स्वामी का जिक्र किया है। श्रीधरस्वामी ने विष्णुपुराण की टीका में चित्सुखाचार्य की चर्चा की है, जिससे सिद्ध होता है कि बोपदेव से पहले श्रीधरस्वामी और उनसे बहुत पहले चित्सुखाचार्य हो चुके हैं। श्रीशङ्कराचार्य के सम्प्रदाय में श्रीचित्सुखाचार्यजी तीसरे आचार्य माने जाते हैं। इनकी रचना 'चित्सुखी' अथवा 'तत्वप्रदीपिका' बहुत प्रसिद्ध है। इनके समय का निर्णय आचार्य शङ्कर के समय पर निर्भर करता है। स्वामी शङ्कराचार्य का समय शाङ्कर सम्प्रदाय और मठों की आचार्य परम्परा की दृष्टि से ईसासे चार-पाँच सौ वर्ष पूर्व है। इसके अनुसार चित्सुखाचार्य का समय ईसा से पूर्व ही प्रमाणित होता है। यदि शङ्कराचार्य का समय आधुनिक विद्वानों द्वारा ईसा की पाचवीं छठी या सातवीं-आठवीं शताब्दी भी मान लिया जाय (किन्तु ऐसा है नहीं, शङ्कराचार्य का समय ईसा से चार-पाँच सौ वर्ष पूर्व ही है) तो भी चित्सुखाचार्य का समय नवीं शताब्दी सिद्ध होता है। उन्होंने भागवत पर टीका लिखी थी, जिसकी चर्चा श्रीमध्वाचार्य, श्रीधरस्वामी और विजयतीर्थ-सभी करते हैं। अतः भागवत का उनके समय से पूर्व होना प्रमाणित हो जाता है।

४—क्विन्सकालेज (काशी) से सम्बन्धित सरस्वती भवन के पुस्तकालय में भागवत की एक प्रति सुरक्षित है, वह प्राचीन लिपि में लिखी हुई है, अतः जब बोपदेव का जन्म भी नहीं हुआ था, उसके बहुत पहले की यह रचना है।

५—विद्यारण्य स्वामी, जिनका तेरहवीं शताब्दी समय निश्चित हो चुका है, आत्मपुराण के रचयिता उनके गुरु श्रीशङ्करानन्दजी ने गीता की अपनी "गीता-तात्पर्य बोधिनी' टीका में श्रीमद्‌भागवत के अनेक श्लोक उद्‌धृत किये हैं। बारहवीं शताब्दी में वे विद्यमान थे। यदि उनके समय में भागवत प्रामा-

णिक और लोकप्रिय ग्रन्थ न रहा होता तो वे उसका उद्धरण कैसे देते ?

६—आचार्य अभिनवगुप्त ने जो काश्मीर प्रत्यभिज्ञा नामक सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य थे और जिनका संस्कृत साहित्य तथा साम्प्रदायिकों में बहुत बड़ा सम्मान था, अपने मत की स्थापना के लिए गीता पर एक टीका लिखी है, जिसमें गीता के चौदहवें अध्याय के आठवें श्लोक की व्याख्या करते समय उन्होंने भागवत का नामोल्लेख करते हुए, दूसरे स्कन्ध और ग्यारहवें स्कन्ध के कुछ श्लोकों को उद्धृत किया है। आचार्य अभिनवगुप्त का समय दसवीं शताब्दी निश्चित है, क्योंकि उन्होंने 'वृहत् प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी' में अपने समय का स्पष्ट उल्लेख किया है—"इति नवतितमेऽस्मिन् वत्सरेऽन्त्ये युगांशे, तिथि- शशि जलधिस्थे मार्गशीर्षावसाने ॥" यह समय काश्मीर प्रदेश में प्रचलित वर्ष-गणना के अनुसार है। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि अभिनव गुप्ताचार्य शैव-सम्प्रदाय के थे और 'भागवत' वैष्णव-ग्रन्थ है, यदि भागवत की रचना तात्कालिक रही होती या वह प्रामाणिक ग्रन्थ न रहा होता तो वे भागवत का उद्धरण देते ही क्यों ? दूसरी बात यह भी है कि भागवत-ग्रन्थ दशम् शताब्दी से कुछ ही पूर्व का बना होता तो दसवीं शताब्दी ही में (इतने अल्पकाल में) काश्मीर तक पहुँचना असम्भव था। अतः भागवत की प्राचीनता और प्रामाणिकता के सम्बन्ध में यह लोकव्यापकत्व प्रभाव अवश्य स्वीकार किया जा सकता है।

७—साख्यकारिका (जो कि ईश्वरकृष्ण विरचित थी) पर माठराचार्य ने एक टीका लिखी थी, ईसवी सन् ५५७ और ५६६ के मध्य उस टीका का चीनी भाषा में अनुवाद हुआ। जिसके अनुवादक का नाम था परमार्थ। ये बौद्ध पंडित थे। अतः विचार करने पर ज्ञात होगा कि अनुवाद के समय से सैकड़ों वर्ष पहले संस्कृत माठर वृत्ति की रचना हो चुकी होगी। उस वृत्ति में भागवत के—

"एतद्ध्यातुर चित्तानां मात्रा स्पर्शेच्छया मुहुः ।
भवसिन्धुप्लवो दृष्टो हरिचर्यानुवर्णनम् ॥"

—(श्रीमद्भागवत स्कन्ध १, अध्याय ६, श्लोक ३५)

तथा—

लदन मे प्रकाशित हुआ (अब उसका हिन्दी अनुवाद भी हो चुका है) उसमे सिद्ध है कि सन् १००० ई० के लगभग भारत में विष्णुपरक भागवत प्रसिद्ध था और उसकी गणना प्रामाणिक ग्रन्थों मे थी।

११– जमालगज स्टेशन के निकट (जो कि राजशाही जिले मे पड़ता है) तीन माल की दूरी पर पहाड़पुर नामक एक ग्राम है, जैसा कि खोज मे ज्ञात हुआ है, उसका नाम सोमपुर धर्मपाल विहार है। सन् १९२७ ई० की खुदाई मे वहा बहुत सी मूर्तियां, स्तूप और शासन-पत्र प्राप्त हुए हैं, उनके अनुसार वहाँ जितनी चीजे मिली हैं, सभी पाँचवी सदी का हैं, उनमे श्रीराधाकृष्ण का युगुल मूर्ति भी है। इससे सिद्ध है कि भागवत की रचना पाँचवी सदी के पूर्व की है क्योंकि आधुनिक अन्वेषकों का मत है कि भागवत के पूर्व श्रीराधाकृष्ण की युगुल उपासना प्रचलित न थी।

१२—'पृथ्वीराजरासो' नामक ग्रन्थ मे महाकवि चन्दबरदायी ने जिनकी प्रतिभा सन् ११९१ ई० मे प्रसिद्ध हो चुकी थी, परीक्षित के सर्प द्वारा डसे जाने की, भगवान के दशो अवतारों की तथा श्रीकृष्ण के भागवतोक्त-चरित्र की कथा लिखते हुए बहुत ही स्पष्ट शब्दों मे भागवत का उल्लेख किया है :—

'भागवत्त सुनहि इक चित्त, तौ सरात छुट्टय अक्रम।'

' कीर (शुकदेव) परिपत्त (परीक्षित) सम।'

'लीला ललित मुरार की मुख मुनि कहिय अपार।'

महाकवि चन्दबरदायी बोपदेव से बहुत पहले हो चुके हैं। भागवत को बोपदेव कृत माननेवालों मे से कुछ लोगो ने बोपदेव को गीतगोविन्दकार कविवर जयदेव का भाई माना है, जो सर्वथा असगत बात है। क्योंकि जयदेव गौडेश्वर लक्ष्मणसेन के दरबारी कवि थे, जिनको सन् ११९८ ई० मे अधिकार मिला था और बोपदेव तेरहवीं शताब्दी मे हुए हैं। चन्दबरदायी ने 'रासो' मे जयदेव का भी उल्लेख किया है।

भारत के प्राय सभी बडे बडे विद्वानों, आचार्यों और सन्तों ने भागवत के प्रमाण उद्धृत किए हैं अत. भागवत ईसा के पूर्व भी विद्यमान था, इसमे सन्देह नहीं।

जब यह प्रमाणित हो जाता है कि भागवत महापुराण है और वह ईसा से पूर्व विद्यमान था तथा इसके रचयिता श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास हैं। तब इसकी रचना कब हुई इस पर भी थोड़ा विचार कर लिया जाय तो अप्रासंगिक न होगा।

पद्मपुराण के अन्तर्गत भागवत-माहात्म्य मे तीन सप्ताहों का वर्णन निम्न प्रकार है :—

१—'भागवत श्रीकृष्ण के परमधामगमन के पश्चात् तीस वर्ष कलियुग व्यतीत हो जाने पर भाद्रपद मास म नौमी तिथि मे श्रीशुकदेव ने राजा परीक्षित को कथा सुनाना प्रारम्भ किया था।'

२—'उसके बाद दो सौ वर्ष और बीत जाने पर अर्थात् कलियुग स० २३० आषाढ शुक्ल नवमी मे गोकर्ण ने धुन्धुकारी को कथा सुनायी थी।'

३—'इसके अनन्तर तीस वर्ष और व्यतीत होने पर अर्थात् कलियुग स० २६० म सनत्कुमारादि ने यही कथा कही थी। अत सिद्ध है कि भगवान् श्रीकृष्ण के परमधामगमन की लीला के पश्चात् ३० वर्षों के दर्मीयान व्यासदेव ने महाभारत और भागवत की रचना कर अपने शिष्यों को पढा दिया था।*
—(भागवत माहात्म्य, छठा अध्याय)

उपर्युक्त विवरणों मे स्पष्ट है कि भागवत अति प्राचीनकाल की रचना है (जब भागवत के रचयिता श्रीकृष्णद्वैपायन भगवान व्यास प्रमाणित हो चुके तो भागवत आधुनिक-काल की रचना हो ही कैसे सकती है ? (और इसके पूर्व की रचना महाभारत (सौ पर्वों वाला) और महाभारत मे पहले की रचना 'वाल्मीकीय रामायण है जो आदि काव्य माना जाता है और इसके रचयिता महर्षि वाल्मीकि आदि-कवि माने जाते हैं। जब यह सिद्ध है कि भागवत ई० सन् से बहुत पूर्व की रचना है तब उससे प्रथम रची गयी महाभारत की रचना (जिसे डा० रामकुमार वर्मा ने ईसा के दो सौ वर्ष बाद की कृति माना है) बहुत प्राचीन-काल का स्वत सिद्ध हो जाती है और इसके पश्चात वाल्मीकीय

* उपर्युक्त लेख म श्रीशान्तनुविहारी द्विवेदीजी के लेख से, जो कल्याण के भागवताङ्क में प्रकाशित हो चुका है, साभार सहायता ली गई है।

रामायण का रचना काल (जो महाभारत की रचना से पूर्व का है,) यह मानना कि ई० सन् से ६०० या ४०० वर्ष ही पूर्व है सर्वथा असंगत है, क्योंकि वाल्मीकि व्यास के पहले हुए और उनकी रचना व्यास की रचनाओं से पूर्व हुई। दूसरी बात यह भी उल्लेखनीय है कि महर्षि वाल्मीकि श्रीरामचन्द्रजी के समकालीन थे। क्योंकि वन यात्रा के समय श्रीरामचन्द्रजी उनके आश्रम पर भाई लक्ष्मण और प्रिया जानकी सहित गये हैं

"देखत बन सर सैल सुहाए। बालमीकि आश्रम प्रभु आए ॥
मुनि कहँ राम दंडवत कीन्हा। आसिरबाद बिप्रबर दीन्हा ॥
बालमीकि मन आनँदु भारी। मंगलमूरति नयन निहारी ॥
तब कर कमल जोरि रघुराई। बोले बचन श्रवन सुखदाई ॥
तुम्ह त्रिकाल दरसी मुनिनाथा। बिस्व बदर जिमि तुम्हरें हाथा ॥
अस कहि प्रभु सब कथा बखानी। जेहि जेहि भाँति दीन्ह बनु रानी ॥
तात बचन पुनि मातु हित भाइ भरत अस राउ।
मो कहुँ दरस तुम्हार प्रभु सबु मम पुन्य प्रभाउ ॥"*

अर्थात् श्रीरामचन्द्रजी ने उनका आतिथ्य सत्कार ग्रहण करते हुए उनसे वार्तालाप किया है और वन में रहने योग्य स्थान के सम्बन्ध में उनसे परामर्श किया है—

'अस जहँ राउर आयसु होई। मुनि उदबेगु न पावै कोई ॥
*   *   *
अस जियँ जानि कहिअ सोइ ठाऊँ। सिय सौमित्रि सहित जहँ जाऊँ ॥"
—(मानस' अयोध्या काण्ड)

यही नहीं माता सीता ने लव और कुश को वाल्मीकि के आश्रम पर ही जन्म भी दिया है।★ अतः वाल्मीकि का समय ६०० या ४०० वर्ष ईसा से पूर्व मानने का तात्पर्य हुआ कि आज से २६०० वर्ष पहले श्रीरामचन्द्रजी भी

* श्रीरामचरित मानस अयोध्या काण्ड।
★ देखिए वाल्मीकि रामायण उत्तर काण्ड।

मौजूद थे, जो सर्वथा असम्भव है। यद्यपि भारतीय कुछ विद्वानों ने वाल्मीकि रामायण की रचना ईसा से १३०० वर्ष पूर्व और महाभारत की रचना १८०० वर्ष पूर्व भी माना है किन्तु ये रचनाएँ और भी अधिक प्राचीनकाल की कृतियाँ हैं। यद्यपि खोज करने पर टीकाओं और आचार्यों की परम्परा के आधार पर यह कहना कठिन हो जाता है कि ई० सन् से दस-बीस हजार वर्ष पहले की ये रचनाएँ हैं। किन्तु भारतीय सभ्यता और विचार धाराएँ तो करोड़ों वर्ष पुरानी हैं। यदि उसका सम्यक् इतिहास लिखा भी जाता तो स्वर्गीय प्रो० रामदास गौड़ के शब्दों में—'भारत का इतिहास इतना प्राचीन है कि यदि आदिकाल से आज तक का इतिहास वर्तमान होता और अत्यन्त संक्षेप से लिखा जाता और साल-साल भर के लिए केवल एक पृष्ठ लिखा जाता तो एक करोड़ छानबे लाख छियासी हजार चार सौ इक्कीस पृष्ठ होते। यदि एक हजार पृष्ठ की एक जिल्द माना तो उन्नीस हजार छः सौ आठ मोटी मोटी जिल्दें होतीं। यदि एक पृष्ठ में २५ पंक्ति मानलें और यह भी मानलें कि कोई एक मिनट में एक पृष्ठ पढ़ लेगा और पाँच घंटे रोज लगातार पढ़ना मान लें तथा यह भी मान लें कि महीने में पच्चीस दिन पढ़ना ही होगा तो पूर्ण ग्रन्थ का पढ़ने में दो सौ सत्रह वर्ष लगेंगे। इतनी लम्बी परम्परा का उस प्रकार का इतिहास होना असम्भव है जिस तरह की इन परम्परा हीन राष्ट्रों की कल्पना है। और हो भी तो इस युग और संसार के लिए नितान्त निरर्थक है। घटनाएँ तो प्रकृति में एक ही प्रकार की बार-बार घटती रहती हैं। इतिहास अपने को बार बार दोहराता रहता है। सब प्रकार की घटनाओं को बार बार दोहराने से पहले एक भारी महत्व की घटना को देकर एक सूत्र (नियम) निर्धारित कर देना यथेष्ट है।'—मानना ही ठीक है।*

उपर्युक्त विवरणों के आधार पर भी यद्यपि यह मानना कि किस तिथि

---

*वाल्मीकि रामायण की रचना कब हुई, इसके सम्बन्ध में लेखक ने अपनी नयी पुस्तक 'राम कथा का मूल स्रोत और उसकी परम्परा' में विस्तार पूर्वक विचार किया है।

ने रामचरित का वर्णन मिलता है, कठिन है। क्योंकि इसकी जानकारी के सम्बन्ध में सन्तोषजनक सामग्री अभी तक उपलब्ध नहीं हो रही है, किन्तु विदेशी विद्वानों की खोजों को मानना तो और भी हास्यास्पद है, क्योंकि उनका खोजों का समय सहज ही कट जाता है, एक भी कसौटी पर खरा नहीं उतरता। अतः भारतीय विद्वानों की खोजों को ही, चाहे उनके समय निर्धारण में अनिश्चितता का दोष भले ही मालूम हो, महत्व देना चाहिए। क्योंकि उसमें कुछ सत्यता का आभास तो अवश्य ही मिलता है। कुल मिलाकर (भारतीय और विदेशी विचारकों की खोजों पर परस्पर विरोधी विचार धाराओं के बावजूद भी) हम अपना यही विचार प्रकट कर प्रसंग समाप्त करते हैं, कि रामचरित का वर्णन अनन्तकाल से है।

हिन्दू-जनता के एक वर्ग में प्राय यह विश्वास सदा से चला आ रहा है कि 'श्रीराम और श्रीकृष्ण साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा हैं। तुलसीदास के पूर्व महर्षि व्यास ने महाभारत के अन्तर्गत (भीष्मपर्व अर्थात् गीता में) लिखा है –

> "यदा यदाहि धर्मस्यग्लानिर्भवति भारत।
> अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
> परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
> धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥"
>
> —(गीता अध्याय ४ श्लोक ७ व ८)

अर्थात्—"हे भारत! जब जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने रूप को रचता हूँ अर्थात् प्रकट करता हूँ। साधु पुरुषों का उद्धार करने के लिए और दूषितकर्म करनेवालों का नाश करने के लिए और धर्म-स्थापना के लिए युग युग में प्रकट होता हूं।"

इसी प्रकार तुलसीदास जी के शब्दों में

"जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी ॥

*   *   *

तब तब धरि प्रभु विविध सरीरा। हरहि कृपानिधि सज्जन पीरा ॥

असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु ॥" —"मानस"

वाल्मीकि-रामायण में लिखा है—

"एतस्मिन्नन्तरे विष्णुरुपयातो महाद्युतिः ।
शङ्ख चक्र गदा पाणिः पीत वासा जगत्पतिः ॥
वैनतेय समारुह्य भास्करस्तोयदं यथा ।
तप्तहाटक केयूरो वन्द्यमानः सुरोत्तमैः ॥"

(बालकाण्ड अध्याय १५, श्लोक १६,वाँ १७वाँ)

अर्थात्— "इसी समय महान् तेजस्वी जगपति भगवान विष्णु मेघ पर चढ़े हुए सूर्य के समान गरुड़ पर सवार हो वहाँ आ पहुँचे, उनके शरीर पर पीताम्बर, हाथों में शङ्ख, चक्र और गदादि आयुध एवं भुजाओं में चमकीले स्वर्ण के बाजूबन्द शोभा पा रहे थे; सभी देवताओं ने उनको प्रणाम किया ।

आगे वर्णन आता है—"देवताओं की प्रार्थना पर दशरथजी के घर में मनुष्य रूप में विष्णु ने अवतार लेना स्वीकार कर लिया—

"हत्वा क्रूरं दुराधर्षं देवर्षीणां भयावहम् ।
दश वर्ष सहस्राणि दश वर्षशतानि च ॥
वत्स्यामि मानुषे रूपे पालयन्पृथिवीमिमाम् ॥"

— (वा० रा० बालकाण्ड १६ अ०; २६ ३० श्लोक)

"अर्थात्—"देवता और ऋषियों को भय देनेवाले उस क्रूर एवं दुर्धर्ष राक्षस का नाश करके मैं ग्यारह हजार वर्षों तक पृथ्वी का पालन करता हुआ मनुष्य लोक में निवास करूँगा ।"

इसके अतिरिक्त—

'भवान्नारायणो देवः श्री मांश्चक्रायुधः प्रभुः ।
*　　*　　*
सीता लक्ष्मीर्भवान् विष्णुर्देवः कृष्णः प्रजापतिः ।
*　　*　　*
वधार्थं रावणस्येह प्रविष्टो मानुषीं तनुम् ॥'

— (वा० रामायण यु० का० अ० ११६, श्लोक १३, २७, और २८)

अर्थात्– "आप साक्षात् चक्रपाणि देवाधिपति प्रभु श्रीनारायणदेव हैं, सीता साक्षात् लक्ष्मी हैं और आप भगवान् विष्णु कृष्ण एवं प्रजापति हैं। आपने रावण वध के लिए ही मानव शरीर धारण किया है।'

भगवान् के परमधाम पधारने के प्रकरण से यह बात और भी स्पष्ट हो जाता है कि श्रीराम साक्षात् पूर्णब्रह्म परमेश्वर थे। क्योंकि उस समय ब्रह्मा के कथनानुसार श्रीराम ने अपने भाइयों सहित इस मानव विग्रह से ही उस वैष्णव तेज में प्रवेश किया

"विवेश वैष्णव तेज सशरीर सहानुज।"

—(वा० रा० उ० का० ११० अ०, श्लोक १२)

इस प्रकार राम विष्णु के रूप में पहले ही प्रतिष्ठित हो चुके हैं। आदि काव्य वाल्मीकि रामायण में जिन स्थलों पर राम विष्णु के अवतार माने गए हैं, कोई कारण नहीं कि उन स्थलों को प्रक्षिप्त अंश मान लिया जाय। देवी देवताओं की मान्यता वाल्मीकि रामायण में तो आ ही गयी है। अतः राम बुद्ध के पहले ही ईश्वरत्व के पद पर आसीन हैं उनके ईश्वर माने जाने का, बुद्ध के ईश्वरत्व के गुणों से विभूषित होने का बौद्धी प्रभाव नहीं है। बल्कि यही सत्य है कि राम और कृष्ण तब पहले से ही विष्णु माने जाते थे, तब बुद्ध भी उसी प्रकार विष्णु के अवतार माने जाने लगे। इसी प्रकार राम का चरित्र जिन ग्रन्थों में वर्णित है वे बहुत ही प्राचीनकाल के ग्रन्थ हैं, उन्हें ईसा की शताब्दियों के आस पास की रचना मानना सर्वथा अन्याय है। उपर्युक्त प्रसंग में जैसे भागवत के रचनाकाल के सम्बन्ध में विचार किया गया है उसी प्रकार उन सभी रामचरित का वर्णन करनेवाले ग्रन्थों की भी रचना तिथि के संबंध में विचार किया जा सकता है। किन्तु स्थानाभाव से यहाँ उसे हम नहीं दे रहे हैं।

राम-भक्ति की दार्शनिक पृष्ठ भूमि—यद्यपि अधिकांश भारतीय-संतों और कवियों या हिन्दू जनता ने रामचरित का वर्णन वेदों में भी माना है, किन्तु वाल्मीकि रामायण महाभारत, भागवत, ब्रह्माण्डपुराण के उत्तर खण्ड अध्यात्म रामायण, विष्णुपुराण रामपूर्वतापनीयोपनिषद, रामउत्तरतापनीयोपनिषद

और अगस्त-सुतीक्ष्ण संवाद संहिता आदि में रामचरित का विवरण स्पष्ट रूप से मिलता है और इसके अतिरिक्त राम को विष्णु का अवतार भी इन ग्रन्थों में माना गया है। जैसे भागवत में देवताओं की प्रार्थना से साक्षात् परब्रह्म परमात्मा भगवान श्रीहरि ही अपने अंशांश से चार रूप धारणकर राजा दशरथ के पुत्र हुए :—

> 'खट्वाङ्गाद् दीर्घबाहुश्च रघुस्तस्मात् पृथुश्रवाः ।
> अजस्ततो महाराजस्तस्माद् दशरथोऽभवत् ॥ १ ॥
> तस्यापि भगवानेष साक्षाद् ब्रह्ममयो हरिः ।
> अंशांशेन चतुर्धागात् पुत्रत्वं प्रार्थितः सुरैः ।
> राम लक्ष्मण भरत शत्रुघ्ना इति संज्ञया ॥ २ ॥''
>
> —(भागवत नवम स्कन्ध अ० १०, श्लोक १, २)

इसी प्रकार अन्य ग्रन्थों में भी राम विष्णु के अवतार माने गये हैं। किन्तु आगे चलकर अद्वैतवाद के प्रतिपादक स्वामी शंकराचार्य ने ब्रह्म की जिस व्यावहारिक सगुण-सत्ता को स्वीकार किया, वह स्वामी रामानुजाचार्य द्वारा सं० १०७३ में सम्प्रदाय के घेरे में प्रतिष्ठित हुई। अर्थात् रामभक्ति ने सम्प्रदाय का रूप ग्रहण किया। इस समय रामानुजजी के श्री सम्प्रदाय में विष्णु या नारायण की उपासना का विधान हुआ। आगे चलकर इस सम्प्रदाय में उच्चकोटि के सन्त हुए। विक्रम की चौदहवीं शताब्दी के अन्त में वैष्णव श्री सम्प्रदाय के प्रधानाचार्य राघवानन्दजी हुए, जो काशी में रहते थे, उन्होंने रामानन्दजी को दीक्षा दी। दीक्षा ग्रहण करने के उपरान्त श्रीरामानन्दजी ने भारतवर्ष का पर्यटनकर इस सम्प्रदाय का प्रचार किया, जिसमें उन्हें उत्तर भारत में विशेष सफलता मिली। इस सम्प्रदाय में श्रीरामानन्दजी ने जाति पाँति का प्रतिबन्ध न रखा, इसलिए यह सम्प्रदाय सर्वसाधारण के लिए उपयोगी सिद्ध हुआ।

श्रीरामानन्दजी ने आचार्य रामानुज के सम्प्रदाय में दीक्षित होकर भी अपनी उपासना-पद्धति भिन्न रखी, अर्थात् उपासना के निमित्त वैकुण्ठ निवासी विष्णु का स्वरूप न ग्रहण कर दाशरथि राम (जो विष्णु के अवतार हैं) का ही आश्रय ग्रहण किया। इनके इष्टदेव राम ही हुए और राम नाम मूलमन्त्र

हुआ। यद्यपि इसके पूर्व भी राम की भक्ति की जाती रही; क्योंकि रामानुजाचार्य ने जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था, उसके प्रवर्तक शठकोपाचार्य पाँच पीढ़ी प्रथम हो चुके हैं।* शठकोपाचार्य ने अपनी 'सहस्रगीति' में कहा है—"दशरथस्य सुत त विना अन्य शरणवान्नास्मि।"

स्वामीरामानुज के पश्चात् उनके शिष्य कुरेश स्वामी ने रामभक्ति सबधी 'पचस्तवी' ग्रन्थ की रचना की। आगे चलकर श्रीरामानन्दजी के शिष्य हुए—कबीर, रैदास, सेन नाई और गॉगरौनगढ़ के राजा पीपा; जो विरक्त होकर पक्के भक्त हुए। भक्तमाल में रामानन्दजी के बारह शिष्यों का उल्लेख है, इन्हीं शिष्यों की परम्परा में भक्तवर कवि गोस्वामी तुलसीदास हुए, जिन्होंने स्वामी रामानन्दजी के सिद्धान्तों को लेकर अपनी अलौकिक प्रतिभा द्वारा व्यापक ढग से रामभक्ति का प्रचार किया। अधिक क्या लिखा जाय, इतना ही लिखना पर्याप्त है कि जहाँ 'क' 'ख' भी नहीं पहुँचा, वहाँ तुलसीदास ने अपनी चौपाइयाँ पहुँचा दीं। रामभक्ति के पीछे तुलसीदासजी की जो दार्शनिक-भावना मिलती है, वह उनके 'विनय-पत्रिका' और 'मानस' में अत्यन्त क्लिष्ट और रहस्यपूर्ण होने पर भी बड़े ही सरल ढंग से देखने को मिलती है। स्तुति, आत्म-बोध और आत्म निवेदन का अधिक अश हो जाने के कारण 'विनय-पत्रिका' में अधिक स्पष्टीकरण नहीं हो पाया है, किन्तु फिर भी कुछ पद अवश्य ऐसे हैं, जिनमें आचार्य शकर के मायावाद का निरूपण सहज ही हुआ है, जैसे—

केसव कहि न जाइ का कहिये।
देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मनहि मन रहिए॥
सून्य भीति पर चित्र, रंग नहि तनु बिनु लिखा चितेरे।
धोए मिटै न मरै भीति दुख पाइय इहि तनु हेरे॥
रविकर-नीर बसै अति दारुन मकररूप तेहि माहीं।

*'हिन्दी साहित्य का इतिहास'—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—छठा संस्करण पृ० ११८ देखिए।

वचन हीन सो भ्रमै चराचर पान करन ने नाहीं ॥
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ जुगल प्रबल करि मानै ।
तुलसिदास परिहरै तानि भ्रम सो आपन पहिचान ॥'

—(विनय-पत्रिका)

विनय-पत्रिका के इस पद से ज्ञात होता है कि तुलसीदास जी आचार्य शंकर के अद्वैतवाद को मानते हुए भी उसे 'भ्रम' मानते थे।

दूसरी रचना 'मानस' में, जहाँ तुलसीदास ने घटना प्रसंग में भी दर्शन का पुट दे दिया है, दर्शन का विशेष व्यापक और परिमार्जित रूप देखने को मिलता है। बालकाण्ड में, जहाँ उन्होंने ईश्वर भक्ति का निरूपण किया है, अपने दार्शनिक विचारों का आभास दे दिया है। इसी प्रकार लक्ष्मण निषाद संवाद, राम-नारद संवाद, वर्षा-शरद वर्णन रामलक्ष्मण संवाद, गरुड़ और कागभुसुंडि संवाद में गोस्वामीजी ने अपनी दार्शनिकता का परिचय दे दिया है। तुलसीदास ने भगवान श्रीरामचन्द्रजी को आदिपूर्णब्रह्म माना है 'विधि हरि हर वंदित पद रेनु।' 'विधि हरि सम्भु नचावनि हारे' का वर्णन अनेक बार किया है अर्थात् अद्वैतवाद के ब्रह्म के लिए जो विशेषण प्रयुक्त हुए हैं तुलसीदास ने उन सभी विशेषणों का प्रयोग किया है। इस अद्वैतवाद की व्याख्या में माया के लिए भी स्थान है, जिसका वर्णन गोस्वामीजी ने बहुत बार किया है। तुलसीदास के वैष्णव होने में तो कोई सन्देह नहीं, अतः यह कहा जा सकता है कि वे अवतारवादी भी माने जायँगे। यही कारण था, उन्होंने 'मानस' में अपने ब्रह्म को अद्वैतवाद के शब्दों में व्यक्त करते हुए भी उसे विशिष्टाद्वैत के गुणों से विभूषित कर दिया है —

"एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानन्द परधामा ॥
व्यापक विश्वरूप भगवाना। तेहि धरि देह चरित कृत नाना ॥
सो केवल भगतन हित लागी। परम कृपालु प्रनत अनुरागी ॥"—'मानस'

जहाँ तुलसीदास अपने ब्रह्म को अद्वैतवाद के अन्तर्गत यह दिखाते हैं, कि—

'गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।"

'नाम रूप दुइ ईस उपाधी। अकथ अनादि सुसामुझि साधी।"

"व्यापक एकु ब्रह्म अविनासी। सत चेतन घन आनद रासी॥'
"ईश्वर अंस जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥' —'मानस'
यहाँ उसे विशिष्टाद्वैतवाद के अन्तर्गत लाने के लिए सती से प्रश्न उपस्थित करा देते हैं कि—

"ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज, अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद॥' 'मानस'

जिसका उत्तर में कहा गया—

"सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा। गावहि मुनि पुरान बुध बेदा॥
अगुन अरूप अलख अज जोइ। भगत प्रेम बस सगुन सो होइ॥
जो गुन रहित सगुन सोइ कैसे। जल हिम उपल बिलग नहिं जैसे॥
जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा। तेहि किमि कहिय विमोह प्रसंगा॥' —'मानस'

* * *

"जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ग्यान गुन धामू॥
जासु सत्यता ते जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥
रजत सीप महँ भास जिमि जथा भानुकर बारि।
जदपि मृषा तिहु काल सोइ, भ्रम न सकै कोउ टारि॥
एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई॥
जौं सपने सिर काटै कोई। बिनु जागे न दूरि दुख होई॥
जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई। गिरिजा सोइ कृपालु रघुराई॥
आदि अन्त कोउ जासु न पावा। मति अनुमान निगम असगावा॥
बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करै बिधि नाना॥
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी॥
तन बिनु परस नयन बिनु देखा। गहै घ्रान बिनु बास असेखा॥
अस सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहि बरनी॥
जेहि इमि गावहि वेद बुध जाहि धरहि मुनि ध्यान।
सोइ दसरथ सुत भगतहित, कोसलपति भगवान॥"—'मानस'

कहने का तात्पर्य है कि गोस्वामीजी ने अद्वैतवाद के अन्तर्गत विशिष्टाद्वैत

का सृष्टि कर दी है। 'मानस' के मनन अवलोकन से पता चलता है कि गोस्वामी जी अद्वैतवाद को श्रद्धा की दृष्टि से तो देखते थे अवश्य, किन्तु वे अनुयायी थे—विशिष्टाद्वैत के ही, आचार्य रामचन्द्रशुक्लजी ने भी यही माना है उन्होंने लिखा है :—

साम्प्रदायिक दृष्टि से तो वे रामानुजाचार्य के अनुयायी थे ही, जिनका निरूपित सिद्धान्त भक्तों की उपासना के अनुकूल दिखायी पड़ा।"

गोस्वामीजी ने ब्रह्म को व्यापक दिखाने के लिए अद्वैतवाद का रूप अवश्य अपनाया और उसे माया से समन्वित भी किया, किन्तु भक्त होने के नाते भक्ति का अवलम्ब ग्रहणकर उन्होंने ब्रह्म को विशिष्टाद्वैत के द्वारा ही निरूपित किया है। यही कारण था कि जहाँ कहीं भी उन्होंने अद्वैतवाद के माध्यम से ब्रह्म का निरूपण किया है, वहीं उसके पश्चात् उसे भक्ति मार्ग का आराध्य भी माना है।

लक्ष्मण के पूछने पर :—

"ईश्वर जीवहि भेद प्रभु, कहहु सकल समुझाइ।
जाते होइ चरन रति सोक मोह भ्रम जाइ॥"— 'मानस'

भगवान श्रीरामचन्द्रजी उत्तर देते हैं —

"माया ईस न आपु कहु जान कहिअ सो जीव।
बंध मोच्छप्रद सर्व पर माया प्रेरक सीव॥"

'जाते वेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई॥"—'मानस'

'रामचरित-मानस' में गोस्वामीजी ने विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्तानुसार ब्रह्म राम को (अद्वैतवाद रूप में मानते हुए भी) १—पररूप, २—व्यूह रूप, ३—विभवरूप, ४—अन्तर्यामीरूप, और ५—अर्चावताररूप में चित्रित किया है।

उदाहरण के लिए :—

१—पररूप—जिसके अनुसार यह रूप वासुदेव स्वरूप है। यह परमानन्द मय और अनन्त है। 'मुक्त' तथा 'नित्य' जीव उसी में लीन हैं। यह ऐश्वर्य, शक्ति, तेज, ज्ञान और वीर्य षड्गुणय विग्रह रूप है। राम को यही रूप दिया गया है उनके प्रत्येक कार्यों पर देवता जो नित्य जीव हैं, पुष्प बरसाते हैं तथा अपनी प्रसन्नता प्रकट करते हैं, जिसका विवरण यत्र तत्र 'मानस' में मिलता है।

"व्यापक ब्रह्म निरजन निर्गुन विगत विनोद ।
सो अज प्रेम भगति बस कौसिल्या के गोद ॥" – मानस'

२—व्यूहरूप—यह स्वरूप विश्व का सृष्टि तथा लय के हेतु है। षड्गुण्य विग्रह में से मात्र दो गुण ही स्पष्ट होते हैं, व छः गुणों में से चाहे ज्ञान और बल हों, चाहे ऐश्वर्य और वीर्य या शक्ति और तेज हों। 'मानस' में इसका निरूपण इस प्रकार है —

'जासु बल विरचि हरि ईसा । पालत सृजत हरत दससीसा ।
जा बल सीस धरत सहसानन । अंडकोस समेत गिरि कानन ॥' 'मा०'

३—विभवरूप—इसके अन्तर्गत विष्णु के अवतार मुख्य हैं वास्तव में यह रूप नर लीला के लिए होता है, 'मानस' में इसका वर्णन इस प्रकार है —

"जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा । तुम्हहि लागि धरिहौं नरवेसा ॥
अंसन सहित मनुज अवतारा । लेइहउँ दिनकर बंस उदारा ॥
हरिहउँ सकल भूमि गरुआई । निरभय होहु देव समुदाई ॥"—'मा०'

"निज इच्छा प्रभु अवतरइ, सुर महि गो द्विज लागि ।
सगुन उपासक संग तहँ, रहहिं मोच्छ सब त्यागि ॥'—'मा०'

४—अन्तर्यामीरूप—इसके अनुसार ईश्वर समग्र ब्रह्माड की गति से अवगत रहता है। वह नाना के अन्तःकरण में प्रविष्ट होकर उनका नियमन करता रहता है। इसी रूप में श्रीरामचन्द्रजी ने अवतार के रहस्य का सुलझाया है 'मानस' में स्थान-स्थान पर इसका सकेत मिलता है —

'उर अन्तर्यामी रघुराऊ' तथा

"तब रघुपति जानत सब कारन । उठे हरषि सुर काज सवारन ॥" 'मा'

५—अर्चावताररूप—इसके अनुसार ब्रह्म का स्वरूप भक्तों के हृदय में अवस्थित होता है, व जिस रूप से ब्रह्म को चाहते हैं, वह उसी रूप में उन्हें प्राप्त होता है। 'मानस' में इसका वर्णन इस प्रकार है—

'माता पुनि बोली सो मति डोली तजहु तात यह रूपा ।
कीजै सिसुलीला अतिप्रियसीला यह सुख परम अनूपा ॥

सुनि वचन सुजाना रोदन ठाना, होइ बालक सुरभूपा ।
यह चरित जे गावहिं हरिपद पावहिं ते न परहिं भवकूपा ॥" 'मा०'

अद्वैतवाद को मानने पर भी विशिष्टाद्वैतवाद के पोषक महात्मा तुलसीदास ने 'मानस' में भली भाँति स्पष्ट कर दिया है कि उनके सम्प्रदायगत विचार विशिष्टाद्वैतवाद से अधिक प्रभावित हैं। रामजन्म के प्रसङ्ग में माता कौशिल्या द्वारा जो स्तुति कराई गयी है वह पूर्णरूप से विशिष्टाद्वैतवाद के सिद्धान्तानुसार ही है—स्तुति की पृष्ठ भूमि एवं रूप चित्रण

"भए प्रकट कृपाला दीन दयाला कौसिल्या हितकारी ।
हरषित महतारी मुनि मन हारी अद्भुतरूप विचारी ॥
लोचन अभिरामा तनु घनस्यामा निज आयुधभुजचारी ।
भूषन बन माला नयन विसाला सोभासिन्धु खरारी ॥"—'मा०'

१—पररूप का संकेत :—

"कह दुइ करजोरी अस्तुति तोरी केहि बिधि करौं अनंता ।
मायागुनग्यानातीतअमाना बेद पुराना भनता ॥"—'मा०'

२—व्यूहरूप का संकेत—

"करुना सुख सागर सब गुन आगर जेहि गावहि श्रुति संता ।
सो मम हित लागी जन अनुरागी भयउ प्रगट श्रीकन्ता ॥"—'मा०'

३—विभव रूप का संकेत—

"ब्रह्माण्ड निकाया निर्मित माया रोम रोम प्रति बेद कहै ।
मम उर सो बासी यह उपहासी सुनत धीर मतिथिर न रहै ॥"-'मा'

४—अन्तर्यामीरूप का संकेत—

"उपजा जब ग्याना प्रभु मुसुकाना चरित बहुत बिधि कीन्ह चहै ।
कहि कथा सुहाई मातु बुझाई जेहि प्रकार सुत प्रेम लहै ॥"—'मा०'

५—अर्चावताररूप का संकेत :—

"माता पुनि बोली सो मति डोली तजहु तात यह रूपा ।
कीजै सिसु लीला अतिप्रियसीला यह सुख परम अनूपा ॥
सुनि वचन सुजाना रोदनठाना होइ बालक सुरभूपा ।

यह चरित जे गावहिं हरि पद पावहिं ते न परहिं भवकूपा ॥'

"विप्र धेनु सुर सन्त हित लीन्ह मनुज अवतार ।

निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गोपार ॥ – मानस'

अत स्पष्ट है कि 'मानस' में अध्यात्म रामायण का अनुकरण करने पर भी (जिसमें कि अद्वैतवाद का सिद्धान्त विशेषरूप से पाया जाता है) तुलसीदास ने विशिष्टाद्वैतवाद के दार्शनिक सिद्धान्तों के अन्तर्गत राम भक्ति की प्रतिष्ठित किया है।

रामभक्ति अपने अति उन्नतकाल में (यहाँ पर तुलसीदास के समय से तात्पर्य है) जिस दार्शनिक भावधारा के अन्तर्गत आई उस पर तो थोड़ा सा विचार हुआ, किन्तु जब हम ऊपर लिख आए हैं कि रामभक्ति अनन्तकाल से समस्त हिन्दू जनता में नीचे चली आ रही है, तो प्रश्न यह हो सकता है कि अद्वैतवाद (जिसके आदि प्रवर्त्तक स्वामी शंकराचार्य थे) और विशिष्टाद्वैतवाद (जिसके प्रवर्त्तक स्वामी रामानुजाचार्य थे) आदि दार्शनिक कोटियों के जन्म के पूर्व रामभक्ति किस दर्शन के अन्तर्गत समझी जायगी ? क्योंकि इन दार्शनिक विचार धाराओं के प्रवर्तकों के बहुत पहले से ही रामभक्ति चली आ रही थी। अत थोड़ा इस पर भी विचार कर लेना आवश्यक है।

वास्तव में आदिज्ञान पूर्ण था। उसी के अंशों को लेकर आवश्यकता, समय और प्रमाद के कारण अनेक विचारों का आविर्भाव हुआ। उपनिषदों से लेकर पुराणों तक में वह एक आदिज्ञान इकट्ठा रूप में मौजूद है। विद्वानों का मत है कि पुराण तो वेदों के भाष्य ही हैं, अत उपनिषदों [illegible] पुराणों में स्पष्ट हो गया है। उसी को अनेक दृष्टिकोण से अन्वेषण [illegible] दर्शन-वाद की उत्पत्ति हुई है। शास्त्रों ने उस [illegible] दिखाया पड़ते हैं अर्थात् एक अनिर्वचनीय सत्, चित् [illegible] सत्ता है। उसके दो रूप हैं १– निर्गुण और [illegible] सगुण स्वरूप। दोनों की व्यापकता एक सी मानी [illegible] स्वरूप विभु है, वैसे ही सगुण स्वरूप भी सर्वगत [illegible] लीलाएँ सदा सर्वत्र व्याप्त हैं। देश काल की [illegible]

वेद जो उपलब्ध विश्व साहित्य में प्राचीनतम् हैं, वे आदि ज्ञान हैं। समग्र मानव ज्ञान; चाहे वह कितना भी उच्च क्यों न हो, इसी के किसी न किसी अंश की अस्पष्ट या स्पष्ट व्याख्या मात्र है। हिन्दू-शास्त्रों में वर्णन मिलता है कि सृष्टि के मनुष्येतर प्राणी भोगयोनि के जीव हैं, वे अपने कर्मों का फल भोगने के लिए उन योनियों में अवतीर्ण हुए हैं। जन्म से ही अपने भोग के उपयुक्त ज्ञान, स्वभाव तथा शक्ति पा जाते हैं। इसलिए उन्हें शक्ति दी गयी है कि वह समस्त ज्ञान का ग्रहण कर सकें। इतना होते हुए भी जन्म से मानव को कोई ज्ञान या स्वभाव नहीं मिला है ताकि वह उसी के अनुसार चलने को विवश हो। मानव अपने आप कुछ सीख नहीं पाता, उसे सिखाया जाता है। मानव के स्वभाव में एक दोष या विशेषता यह भी परिलक्षित होती है कि वह ज्ञान को भूला करता है। आज दुनियाँ की स्थितियों के आधार पर कहा जा सकता है कि ज्ञान सम्पन्न जातियाँ कालान्तर में असभ्य या ज्ञानहीन हो जाती हैं। जब यह बात सच है कि धीरे धीरे ज्ञान विस्मृत होता जाता है, तो यह भी स्वतः सिद्ध है कि मानव का आदि ज्ञान भी पूर्ण था। कोई *किसी को नया ज्ञान नहीं सिखाता, मात्र भूले ज्ञान की स्मृति कराता है।* क्योंकि जिसमें ज्ञान होता ही नहीं उसे ज्ञान सिखाया ही कैसे जायगा। आनन्द की भाँति ज्ञान भी अन्तःकरण में निहित रहता है, क्योंकि ज्ञान चैतन्य का स्वरूप है। सृष्टि के आदि में मानव को जो ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त हुआ, वह सर्वथा पूर्ण था, उसी ज्ञान को 'वेद' कहते हैं। यही कारण है कि विश्व को सन्देश देनेवाले महापुरुष कोई नयी शिक्षा नहीं देते, बल्कि प्रमादवश फैली हुई कुरीतियों को नष्टकर धर्म के पुनरुद्धारक के ही रूप में आते हैं। वास्तव में पूर्ण-*ज्ञान का जो मूल-स्रोत है समय पाकर उसमें अनेक युगपुरुषों के द्वारा अनेक* धाराओं का फूट पड़ना इसका साक्षी है। जिस प्रकार कुएँ का जल अनादि काल से वर्तमान है, किन्तु उसे कोई बासी जल नहीं कह सकता, परन्तु उसी कुएँ का जल यदि किसी घड़े में भरकर रख दिया जाय तो कुछ देर के पश्चात उसे बासी कहा जाने लगेगा। तत्काल कुएँ से निकाला जल ताजा और कुएँ का जल कहा जायगा। इसी प्रकार सर्वशक्तिमान् ईश्वरप्रदत्त पूर्णज्ञान (वेद) से

ह्रोकर ... ज्ञान जिसे जन-समुदाय भुला चुका रहता है, उसे कोई युगपुरुष उद्... समाज का कल्याण करता है, जिसे उस युगपुरुष की देन कहा ... है। इसी कारण है हमारी भारतीय दार्शनिक धाराएँ—आर्हत (जैन) दर्शन, ...दर्शन, बौद्ध दर्शन, वैशेषिक दर्शन, न्याय-दर्शन, योग दर्शन, ...दर्शन, उत्तर मीमांसा दर्शन इसके पश्चात् अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैत, द्वैतवाद, द्वैताद्वैत और शुद्धाद्वैत आदि सभी दार्शनिक विचार विभिन्न होते ... भी सनातन मूल ज्ञान में ही प्राणवन्त हैं। इनमें जो कुछ भी सन्देश है ... सब वेद में हमें प्राप्त हो जाता है। अत राम भक्ति का दार्शनिक दृष्टिकोण (अद्वैत और विशिष्टाद्वैत के आदि प्रवर्त्तकों के जन्म के पूर्व भी व्यास ... की रचनाओं द्वारा राम भक्ति, जो उसी रूप में चली आ रही थी,) समझने के लिए यही एक साधन है कि दर्शनों के वर्गीकरण के द्वारा राम भक्ति ... दर्शन के अन्तर्गत आती है, उसका मूल स्रोत वेद ही है जो अनादि है और शाश्वत है, हमें वहीं इसके स्वरूप को पहचानना चाहिए।

(ग) रचनायें और काव्य पद्धति—राम काव्य पर ऐतिहासिक ढंग से ऊपर विचार किया जा चुका, जिसमें संस्कृत साहित्य भी आ गया है, अब उसकी हम हिन्दी में प्रगति देखने का प्रयत्न करेंगे।

स्वामी रामानन्दजी ने उत्तरी भारत में रामभक्ति का अच्छा प्रसार किया। उनके प्रभाव से प्रभावित होकर भक्त लोग राम सम्बन्धी रचनाएँ फुटकल पदों में करने लगे थे, किन्तु रामचरित को प्रबन्धात्मक रूप से विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भाषा काव्य के समस्त प्रचलित पद्धतियों के अनुसार वर्णित करनेवाले, भक्तशिरोमणि महाकवि तुलसीदासजी ही हुए। तुलसीदासजी के बाद भी अनेक कवियों ने राम साहित्य की रचना की; किन्तु राम साहित्य पर रचना करनेवाले हिन्दी के किसी कवि को उतनी सफलता न प्राप्त हुई जितनी तुलसीदास को। तुलसीदास ने रामकथा को ... मानव जीवन की जितनी व्यापक समग्र समीक्षा की, उतनी इनके ... होनेवाले कवियों के द्वारा फिर सम्भव न हो सकी। भक्ति के साथ ... में ऐसे आदर्शों की स्थापना का जो समय के प्रवाह में ...

आचार्य शुक्लजी ने ठीक ही कहा है 'अपने दृष्टि विस्तार के कारण ही तुलसी दासजी उत्तरी भारत की समग्र जनता के हृदय-मन्दिर में पूर्ण प्रेम प्रतिष्ठा के साथ विराज रहे हैं। भारतीय जनता का प्रतिनिधि कवि यदि किसी को कह सकते हैं तो इन्हीं महानुभाव को। और कवि जीवन का कोई एक पक्ष लेकर चले हैं—जैसे वीरकाल के कवि उत्साह को, भक्ति काल के दूसरे कवि प्रेम और ज्ञान को, अलंकार के कवि दाम्पत्य प्रणय या शृंगार को। पर इनकी वाणी की पहुँच, मनुष्य के सारे भावों और व्यवहारों तक है। एक ओर तो वह व्यक्तिगत साधना के मार्ग में विरागपूर्ण शुद्ध भगवद्भक्ति का उपदेश करती है, दूसरी ओर लोकपक्ष में आकर पारिवारिक और सामाजिक कर्त्तव्यों का सौन्दर्य दिखाकर मुग्ध करती है। व्यक्तिगत साधना के साथ ही-साथ लोक-धर्म की अत्यन्त उज्वल छटा उसमें वर्तमान है।' ★

तुलसीदासजी के अतिरिक्त राम चरित पर रचना करनेवाले कवियों के नाम इस प्रकार हैं।* केशवदास, स्वामी अग्रदास, नाभादास, सेनापति, हृदय राम, प्राणचन्द चौहान, लालदास, लालदास, बालभक्ति, रामप्रियाशरण, जानकीरसिकशरण, प्रियादास, कलानिधि, महाराज विश्वनाथ सिंह, प्रेमसखी, कुशल मिश्र, रामचरणदास, मधुसूदनदास कृपानिवास, गंगाप्रसाद, व्यासउदे सिंह, मनसुखशरण, भगवानदासी खत्री, गंगाराम, रामगोपाल, परमेश्वरीदास, पद्मनाभदास, गणेश, ललकदास, रामगुलाम द्विवेदी, जानकीचरण, शिवानन्द, दुर्गेश, जीवाराम, चन्दादास, मोहन, रसरंग, रामनाथ, जनकलाडिलीशरण, जनकराजकिशोरीशरण, गंगाप्रसादमाथ, हरवंश सिंह, लछमण, रघुवरशरण, गिरिधरदास, इनके अतिरिक्त वीसवीं शताब्दी में रामचरित उपाध्याय, बल देवप्रसाद मिश्र, 'ज्योतिसी' और मैथिलीशरण गुप्त आदि हैं। इन सभी कवियों की रचनाओं में निम्नलिखित ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण हैं

★ आचार्य शुक्ल प्रणीत—'हि० सा० का इतिहास' छठाँ संस्करण पृ० १-८ देखिये। * देखिये डा० श्रीरामकुमार वर्मा का 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', द्वितीय संस्करण।

१—'रामचरित मानस', 'दोहावली', 'कवितावली', 'गीतावली', एव विनय-पत्रिका, जिसके रचयिता गोस्वामी तुलसीदास हैं।

२—'रामचन्द्रिका' जिसके रचयिता केशवदास हैं।✯

३ —'साकेत' जिसके रचयिता मैथिलीशरण गुप्त हैं।*

अतः तुलसीदास की रचनाओं– 'रामचरित मानस', 'दोहावली', 'कवितावली', 'गीतावली', और 'विनय-पत्रिका' पर ही हम अपना अध्ययन उपस्थित करना चाहते हैं।

गोस्वामी तुलसीदास और उनकी कृतियाँ––महात्मा तुलसीदास के द्वारा रचे गये विद्वानों की सम्मतियों और खोजों के आधार पर १२ ग्रन्थ प्रामाणिक हैं जिनमें 'दोहावली', 'कवितावली', 'गीतावली', 'रामचरित मानस', और 'विनय-पत्रिका' ये पाँच बड़े ग्रन्थ हैं तथा 'रामलला नहछू', 'पार्वती-मंगल', 'जानकी मंगल', 'बरवैरामायण', 'वैराग्य संदीपनी', 'कृष्णगीतावली', और 'रामाज्ञा प्रश्नावली' ये सात छोटे ग्रन्थ हैं।

दोहावली—वेणीमाधवदास के अनुसार इसका रचनाकाल संवत् १६४० है। किन्तु कुछ विद्वानों ने इसकी रचना तिथि १६६५ से १६८० के बीच माना है। जो भी हो, इसकी रचना दोहों में है, जिनमें ५७३ दोहे हैं। इस ग्रन्थ में अन्य ग्रन्थों के दोहे भी संग्रहीत हैं, जैसे 'मानस' के ८५ दोहे, सतसई के १३१, रामाज्ञा के ३५ और वैराग्य-संदीपनी के २ दोहे हैं। शेष दोहे नए हैं, इसमें २० सोरठे भी हैं। यह ग्रन्थ दोहा छन्द में लिखा गया है।

'दोहावली' के अन्तर्गत कविने नीति, भक्ति, राम महिमा, नाम माहात्म्य, राम

✯ आचार्य केशवदास ने यद्यपि रामचरित पर भी रचना की है और ये भक्तिकाल के कवि भी हैं, किन्तु ये साहित्य में रीति ग्रन्थों के प्रणेता होने से रीतिकाल के अधिक निकट हैं; अतः इनकी कविताओं में प्रवृत्ति सम्बन्धी समीक्षा इस ग्रन्थ में नहीं की जा रही है।

* गुप्तजी आधुनिकयुग के कवि हैं। अतः इनकी कृतियों की भी प्रवृत्ति सम्बन्धी समीक्षा यहाँ न की जा सकेगी।

के प्रति चातक के आदर्श का प्रेम तथा आत्म विषयक उक्तियों की हृदयग्राही रचना की है। चातक की अन्योक्तियों द्वारा तुलसीदासजी ने अपनी अनन्य भक्ति का आभास दिया है। इसी प्रकार कलिकाल वर्णन में तत्कालीन परिस्थितियों पर अच्छा प्रकाश डालने का प्रयत्न दीखता है। इसमें आए हुए कुछ दोहे ऐसे भी हैं, जो मनोवेगों का स्वाभाविक सफल चित्रण करते हैं। इसमें घन और चातक का जो अविचल और अनन्य प्रेम है वह अलौकिक है और अत्यन्त उत्कर्ष पर पहुंचा हुआ है। दो तीन दोहे उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किए जा सकते हैं –

> "चातक तुलसी के मते स्वातिहु पियै न पानि।
> प्रेम तृषा बाढ़ति भली, घटे घटैगी आनि॥"
> 'जीव चराचर जहँ लग, है सब को हित मेह।
> तुलसी चातक मन बस्यौ घन सों सहज सनेह॥'
> नहिं जाँचत नहिं संग्रही सीस नाइ नहिं लेइ।
> ऐसे मानी माँगनेहि को वारिद बिनु देइ॥"

२—कवितावली- इसका रचनाकाल अधिक विद्वानों ने सं० १६६६ के निकट माना है। रचना में जान पड़ता है, कि समय समय पर इसमें लिखे गए कवित्तों का संग्रह है। कुल मिलाकर ३२५ छन्द इस ग्रन्थ में हैं। सारी रचना सात काण्डों में विभक्त है। २२ छन्द बालकाण्ड में, २८ छन्द अयोध्या-काण्ड में, १ छन्द अरण्य काण्ड में, १ छन्द किष्किन्धा-काण्ड में, ३२ छन्द सुन्दर काण्ड में, ५८ छन्द लंका काण्ड में, और १८३ छन्द उत्तर-काण्ड के अन्तर्गत लिखे गए हैं। ग्रन्थ भर में सबसे अधिक विस्तार उत्तर काण्ड का है। जिसमें गोस्वामीजी ने विभिन्न विषयों पर स्फुट रचना की है। कवित्त, सवैया, झूलना और छप्पय छन्दों में इस ग्रंथ की रचना हुई है। क्योंकि भगवान् श्रीरामचन्द्रजी के ऐश्वर्य और शक्ति के चित्रण में ये ही छन्द उपयुक्त थे। रामचरित का सम्पूर्ण घटनाओं का विस्तृत वर्णन न कर ऐश्वर्य सम्बन्धी अर्थात् युद्धादि का बड़ा ओजस्वी वर्णन इसमें विशेष रूप में आया है। 'मानस' की भाँति इसमें नियमित रूप में कथा का विस्तार काण्डों में नहीं हुआ है। अरण्य और

किष्किन्धा काण्ड में एक-एक छन्द देकर मात्र काण्डों का निर्वाह सा किया गया है। कुल मिलाकर यहाँ कहा जा सकता है कि कथा सूत्र सर्वथा छिन्न भिन्न रूप में है। आगे चलकर उत्तरकाण्ड में राम कथा से सम्बन्धित न होकर रचना व्यक्तिगत घटनाओं, तत्कालीन परिस्थितियों और स्फुट भावों पर ही प्रकाश डालती है। जैसे सीतावट, काशी, कलियुग की अवस्था, बाहुपीर, राम स्तुति, गोपिका उद्धव सम्वाद, हनुमान स्तुति और जानकी स्तुति आदि स्वतन्त्र विषय हैं। इनके पहले भी जो घटनाएँ रामचरित सम्बन्धी हैं, वे अत्यन्त संक्षिप्त हैं। 'मानस' की भाँति वे विस्तारपूर्वक नहीं लिखी गयी हैं। केवल सात छन्दों में राम की बाल लीला का वर्णन है, इसके पश्चात् सीता स्वयम्वर का वर्णन आता है, जिसमें विश्वामित्र आगमन और अहल्या उद्धार की घटनाएँ आने ही नहीं पायी हैं। शेष जो कथाएँ आइ भी हैं, वे अत्यन्त संक्षिप्त हैं। इसी प्रकार अयोध्या काण्ड में जिन प्रसङ्गों एवं पात्रों से रामचन्द्रजी की श्रेष्ठता और भक्त के आत्म समर्पण की भावना दिखाई पड़ती है, उन्हें छोड़कर शेष कथा बहुत अस्त व्यस्त है। घटनाओं के वर्णन में प्रबन्धात्मकता का दृष्टिकोण न रखने से कवि ने पारस्परिक सम्बन्ध का निर्वाह नहीं किया है। कैकेयी के वरदान की चिन्ता भी न करके कवि ने राम वन गमन से काण्ड प्रारम्भ किया है, जिसमें आगे चलकर केवट, मुनि तथा ग्रामवधू के चित्र अत्यन्त मार्मिक ढङ्ग से खरे उतरे हैं :—

> "रानी मैं जानी अयानी महा पवि पाहनहू ते कठोर हियो है।
> राजहु काज अकाज न जान्यो कह्यो तियको जिन कान कियो है॥
> ऐसी मनोहर मूरति ये बिछुरे कैसे प्रीतम लोग जियो है।
> आँखिन में सखि राखिबे जोग इन्हें किमि कै बनबास दियो है॥"

इसी प्रकार एक और छन्द है, जिसमें भगवान् श्रीरामचन्द्रजी की मर्यादा का पालन और उनकी शालीनता पर प्रकाश डाला गया है।—

> "सीस जटा उर बाहु बिसाल, बिलोचन लाल, तिरीछी सी भौंहैं।
> तून सरासन बान धरे तुलसी बन मारग में सुठि सोहैं॥
> सादर बारहि बार सुभायँ चितै तुम त्यों हमरो मनु मोहैं।

पूँछति ग्राम बधू सिय सों, कहौ, साँवरे-से सखि रावरे को हैं ॥
सुनि सुन्दरि बैन सुधारस साने सयानी हैं जानकी जानी भली ।
तिरछे करि नैन दे सैन तिन्हैं समुझाइ कछू, मुसुकाइ चली ॥
तुलसी तेहि औसर सोहैं सबै अवलोकति लोचन लाहु अली ।
अनुराग तड़ाग में भानु-उदै बिगसीं मनो मंजुल कंज कली ॥''

उपर्युक्त छन्दों में 'चितै तुम्ह त्यों', 'तिरछे करि नैन दे सैन तिन्हैं, समुझाइ कछू मुसुकाइ चली, में कवि ने एक में रामचन्द्रजी के द्वारा एक पत्नीव्रत की मर्यादा का पालन करने का कितना सुन्दर संकेत दिया है ! गाँव की स्त्रियों ने चितै तुम्ह त्यों ही कहा, यह नहीं कहा कि 'चितै हम त्यों' क्योंकि भगवान श्री रामचन्द्रजी परस्त्री की ओर नहीं निहारते। इसी प्रकार दूसरे छन्द में महारानी जानकी ने जिस ढङ्ग से समझाया कि श्रीरामचन्द्रजी मेरे पति हैं, वह अत्यन्त मार्मिक होकर जानकीजी की शालीनता पर अच्छा प्रकाश डाल रहा है।

अरण्य काण्ड में एक छन्द देकर जिसमें 'हेम कुरङ्ग' के पीछे रघुनायक 'धाए', शेष कथाओं को कवि ने छोड़ दिया। जानकी हरण जैसे महत्वपूर्ण घटना का भी संकेत नहीं मिलता। इसी प्रकार किष्किन्धा काण्ड में भी सुग्रीव मिलना एवं बालि-बध आदि घटनाओं का वर्णन न आकर केवल हनुमानजी का समुद्रोल्लंघन सम्बन्धी एक छन्द दे दिया गया। कथा की दृष्टि से इसी प्रकार सुन्दर काण्ड भी महत्वहीन है; किन्तु रस की दृष्टि से बहुत ही श्रेष्ठ है। रौद्र और भयानक रसों का वर्णन तो 'मानस' से भी बढ़ कर है। इसका कारण यही है कि इन रसों के वर्णन में घनाक्षरी छन्द का उपयुक्त प्रयोग है, जो कि 'मानस' में नहीं अपनाया गया है। लङ्कादहन के वर्णन में क्रोध और भय की भावना स्थायी रूप से रहने के कारण भयानक और रौद्र रसों के उद्रेक में सहायक है, देखिए कितना प्रभावकारी भय है—

'लागि, लागि आगि भागि-भागि चले जहाँ तहाँ,
धीय को न माय बाप पूत न सँभारहीं।
छूटे बार बसन उघारे धूम धुन्ध अन्ध,
कहैं बारे बूढ़े 'बारि बारि' बार बारहीं ॥

हय हिहिनात भागे जात घहरात गज
भारी भीर ठेलि पेलि रौंदि खौंदि डारहीं।
नाम लै चिलात बिललात अकुलात अति
तात, तात! तौंसियत, झौंसियत झारहीं ॥'१५॥
'लपट कराल ज्वाल जालमाल दहूँ दिसि,
धूम अकुलाने, पहिचानै कौन काहि रे।
पानी को ललात बिललात, जरे गात जात,
परे पाइमाल जात 'भ्रात' तू निबाहि रे ॥
प्रिया! तू पराहि, नाथ! नाथ! तू पराहि बाप!
बाप! तू पराहि पूत! पूत! तू पराहि रे ॥'
'तुलसी बिलोकि लोग ब्याकुल बेहाल कहैं,
लेहि दससीस! अब बीस चख चाहि रे ॥'१६॥

लङ्का निवासियों के हृदय में ऐसा भय समा गया है कि—

'बीथिका बजार प्रति, अटनि अगार प्रति,
पवरि पगार प्रति बानर बिलोकिए।
अध ऊर्ध बानर, बिदिसि दिसि बानर है
मानो रह्यो है भरि बानर तिलोकिए ॥
मूँदे आँखि हिय में, उघारे आँखि आगे ठाढ़ो,
धाइ जाइ जहाँ तहाँ, और कोउ को किए।
लेहु, अब लेहु, तब कोउ न सिखायो मानो,
सोई सतराइ जाइ जाहि जाहि रोकिए ॥'१७॥

इसके आगे भीषण दृश्य देखिए—

'हाट बाट हाटकु पिघिलि चलो घी सो घनो,
कनक-कराही लंक तलफति तायसों।
नाना पकवान जातुधान बलवान सब
पागि पागि ढेरी कीन्ही भली भाँति भायसों ॥
पाहुने कृसानु पवमान सों परोसो, हनु

मान सनमानि कै जेंवाए चित चायसों।
'तुलसी' निसारि अरिनारि दै दै गारि कहैं,
"बावरे सुरारि बैर कीन्हों रामराय सों ॥२४॥

लङ्का काण्ड में, जिसमें कवि ने अङ्गद, रावण और मन्दोदरी, रावण सम्वाद विस्तार से वर्णन कर युद्ध-वर्णन प्रारम्भ कर दिया है, कथा नियमित रूप से नहीं चल पायी है। रस के विचार से इसमें भी वीर, रौद्र तथा वीभत्स रसों का अच्छा वर्णन मिलता है किन्तु 'मानस' की भाँति राम और हनुमान का युद्ध राक्षसों के साथ जिस प्रकार हुआ इसमें वैसा नहीं है, इसमें तो राम का युद्ध सङ्क्षेप में है और हनुमान का विस्तृत। वीर तथा रौद्र रस के वर्णन हनुमानजी के युद्ध में देखे जा सकते हैं—

"जो दससीसु महीधर ईसु को बीस भुजा खुलि खेलनहारो।
लोकप, दिग्गज, दानव देव, सबै सहमे सुनि साहस भारो॥
वीर बड़ो विरदैत बली, अजहूँ जग जागत जासु पँवारो।
सो हनुमान्न्यो मुठिकाँ गिरिगो गिरिराजु ज्यों गाजको मारो॥"

"मारि कै सनाह गजराह रथवाह दल,
महाबली धाए बीर जातुधान धीर के।
इहाँ भालु बन्दर बिसाल मेरु मन्दर से,
लिए सैल साल तोरि नीरनिधि तीर के॥
तुलसी तमकि ताकि भिरे भारी जुद्ध क्रुद्ध,
सेनप सराहे निज निज भट भीर के।
रुण्डन के झुण्ड झूमि झूमि झुकरे से नाचें,
समर सुमार सूर मारे रघुबीर के॥"

'मानस' की भाँति रामकथा उत्तर काण्ड तक नहीं जा पायी है। लंका काण्ड में ही यह समाप्त हो जाती है।

उत्तर-काण्ड इस ग्रन्थ का वृहत अंश है। इसमें कवि ने नीति, भक्ति तथा आत्म-चरित का विशेष वर्णन किया है। इस प्रकरण में कितनी ही बातें कवि ने अपनी व्यक्तिगत लिखी हैं। जिसमें इसके द्वारा कवि के जीवन के सम्बन्ध

में अच्छा प्रकाश पड़ता है। इस काण्ड में शान्त रस के ही वर्णन अधिक मिलते हैं। इसके साथ ही तत्कालीन परिस्थितियों का चित्रण, पौराणिक कथाएँ, भ्रमर गीत, कलि से विवाद और देवताओं की स्तुति के विवरण भी मिलते हैं। उत्तर काण्ड राम-कथा से संबधित न होकर स्वतंत्र है। समग्र कवितावली में भयानक रस का जितना सुन्दर वर्णन विस्तार के साथ मिलता है वह हिन्दी-साहित्य में बेजोड़ है।

गीतावली—का रचनाकाल कुछ लोग स० १६२८ मानते हैं* और कुछ लोग स० १६८३ को मानते हैं*। यह ग्रन्थ के रूप में सम्यक् न लिखी जाकर स्फुट पदों के ही रूप में रचित है। इस ग्रन्थ में कोई मंगलाचरण नहीं है। रामचन्द्रजी के जन्मोत्सव से ही इस ग्रन्थ का प्रारम्भ होता है। 'मानस' की भाँति भगवान् राम के जन्म के न तो कारण का उल्लेख है और न तो 'मानस' की भाँति सब कथाएँ ही आ पायी हैं। यह ग्रन्थ भी सात काण्डों में विभक्त है। जिनमें कुल मिलाकर ३२८ पद ही आ सके हैं, जैसे बालकाण्ड के अन्तर्गत १०८, अयोध्याकाण्ड में ८६ पद, अरण्यकाण्ड में १७२, किष्किन्धा में २, सुन्दर-काण्डमें ५१ पद, लंकाकाण्ड में २३ और उत्तरकाण्ड में ३८ पद हैं। 'मानस' की भाँति सभी काण्डों की कथा का पूर्ण निर्वाह नहीं किया गया है। क्योंकि अयोध्याकाण्ड के पहले ही पद में वशिष्ठ से रामराज्याभिषेक के निमित्त दशरथजी की विनय है, दूसरे में राम वनवास और माता कौशल्या की रामचन्द्रजी से वन न जाने की प्रार्थना है, कैकेयी के वरदानवाली सभी विदग्धतापूर्ण कथा का वर्णन नहीं आने दिया गया है। 'मानस' की भाँति इस ग्रन्थ में कवि को चरित्र चित्रण में सफलता नहीं प्राप्त हुई है। इसका भी यही कारण है कि इसमें घटनाओं की विशृङ्खलित वर्णना है। यदि गीतावली स्फुट रूप में न लिखी गयी होती तो चरित चित्रण में कवि को अवश्य सफलता प्राप्त होती।

भगवान राम की कथा पदों में लिखने की प्रेरणा तुलसीदास को सूरसागर से मिली। क्योंकि गीतावली के अनेक पद भी सूरसागर के पदों से मिलते हैं।

* वेणीमाधवदास का मत। * डा० रामकुमार वर्मा एम. ए. का मत।

कहीं-कहीं तो इनमें इतनी समानता है कि 'तुलसी' और 'सूर' तथा 'राम' और 'श्याम' का ही अन्तर होता है और शेष पद ज्यों के-त्यों ग्रहण किए गए हैं। इसके अतिरिक्त गीतावली में बाल वर्णन सूरसागर के ही समान विस्तार के साथ मिलता है, जब कि कवि ने अन्य ग्रन्थों—कवितावली, 'मानस'—में बहुत संक्षेप में इस प्रसंग को प्रकट किया है। जिस प्रकार सूरसागर में यशोदा श्रीकृष्ण के वियोग में अनेक प्रकार की कल्पनाएँ करती हैं तथा पूर्व स्मृतियों को जगाती हैं, उसी प्रकार तुलसीदास ने भी माता कौशल्या का राम के वियोग में गीतावली के अन्तर्गत चित्रण किया है। सूरसागर के समान ही गीतावली में—रामराज्य में हिंडोला, बसन्त, होली और चाँचर वर्णन मिलते हैं। इतना होते हुए भी गीतावली और सूरसागर के बाल वर्णन में अन्तर है। साधारण तथा स्वाभाविक परिस्थितियों के वर्णन में गोस्वामीजी ने भगवान राम के उत्कृष्ट व्यक्तित्व और ब्रह्मत्व का ध्यान रखा है, जिससे मर्यादा का अतिक्रमण न होने पावे। गीतावली का बाल वर्णन वर्णनात्मक अधिक है। क्योंकि उसमें स्थिति का सम्पूर्ण निरूपण हुआ है। किन्तु गीतावली का बाल वर्णन अभिनयात्मक नहीं माना जा सकता। पात्रों के सम्भाषण में कुछ अभाव के कारण राम के शृङ्गार वर्णन के प्रसंग में मनोवेगों का स्थान गौण हो गया है। सूरसागर में मनोवैज्ञानिक भावनाओं का जो वर्णन, पात्रों के अभिनय का रूप देकर सूरदास ने किया है, वह गीतावली के इस वर्णन से श्रेष्ठ है। क्योंकि स्वाभाविक बाल-चेष्टाओं के अन्तर्गत स्वतन्त्रता, चञ्चलता, चपलता आदि सृष्टि न करके तुलसीदासजी अपने आराध्यदेव भगवान् श्रीरामचन्द्रजी के सौन्दर्य चित्रण—उनके अंग, वस्त्र तथा आभूषण आदि के वर्णन—में भी मर्यादा का सर्वथा ध्यान रखते ही रहे। उन्हें भय था कि भगवान् श्रीरामचन्द्रजी के मनोवेगों के स्वाभाविक चित्रण में कहीं मर्यादा का उल्लंघन न हो जाय। सूरदास की भक्ति सख्य-भाव के अन्तर्गत होने से विस्तृत क्षेत्र का उन्हें अवसर था। वे अधिक से अधिक स्वतन्त्रतापूर्वक भावों की सृष्टि कर सकते थे, किन्तु महात्मा तुलसीदास की भक्ति दास्य भाव के अन्तर्गत थी, जिसके भीतर दृष्टि विस्तार की क्षमता होने पर भी मर्यादा के बाहर भावना वर्जित होने से कवि को एक संकुचित घेरे में ही रह

जाना पड़ा। इसलिए रामचन्द्रजी नागरिक जीवन में मर्यादित होने के कारण (मर्यादा पुरुषोत्तम होने के कारण) उच्छृंखलता के सम्पर्क में न लाए जा सके और कवि को उनके बाह्यरूप वर्णन ही में सतोष करना पड़ा। जहाँ सूरदास को भगवान श्रीकृष्ण के अनेक गोपियों के सम्पर्क में आने और उनसे प्रेम करने जैसे विषय का विस्तारपूर्वक वर्णन करने के लिए अवसर था, वहां राम के एक पत्नीव्रती और अत्यधिक संयमी होने के कारण कवि तुलसीदास को सूर की भाँति व्यापक क्षेत्र ही नहीं मिल पाता, जिसमें उन सभी बाल-चेष्टाओं को वे न अंकित कर सके। अत्यन्त संकुचित दायरे में भी रह कर कवि ने अपनी काव्य कुशलता का जितना परिचय दिया है, वही क्या कम है?

वर्ण्य-विषय गोस्वामी तुलसीदास के ग्रन्थों में कलेवरकी दृष्टि से 'मानस' के पश्चात् गीतावली ही है। इसमें समग्र रामचरित्र पदों में वर्णित है। किन्तु 'मानस' की अपेक्षा इनकी वर्णनशैली दूसरे ढग की है, 'मानस' महाकाव्य है, इसमें सभी रसों का सागोपाग वर्णन है, वहाँ कवि हृदय के समग्र भावों का गम्भीर विश्लेषण देखने में मिलता है। किन्तु गीतावली की रचना गीतों में मुक्तक रूप से हुई है, जिसमें आद्योपान्त कवि का एक ही भाव देखने में आता है। सच तो यह है कि आराध्य से आत्म निवेदन की प्रसन्नता में रचना गेय हो जाती है तथा भावना के घनीभूत होने से संक्षिप्तता आ जाती है। सफल गीति-काव्य के विद्वानों ने चार लक्षण गिनाए हैं—१ आत्माभिव्यक्ति, २—विचारों की एकरूपता, ३—संगीत और ४—संक्षिप्तता। ये तत्व गीतावली में पाए जाते हैं। क्योंकि इन तत्वों के संयोजन का प्रयत्न कवि ने किया है। गीतावली में प्रबन्धात्मकता की अपेक्षा न करके अपने इष्टदेव की मनोहर झाँकियाँ प्रस्तुत करने में कवि ललित भाव ही व्यक्त कर सका है, भगवान के रूप माधुर्य अथवा करुण-रस के वर्णन में कवि ने अन्य घटनाओं की अपेक्षा अधिक विस्तार किया है, किन्तु जितनी परुष घटनाएँ हैं: उनकी ओर कवि दृष्टिपात भी नहीं करता। इसी दृष्टिकोण से कवि ने कैकेयी-दशरथ सवाद, लंका दहन, राम रावण युद्ध आदिका वर्णन नहीं किया है। ये स्थल गीतके कोमल एव सरस उपकरणोंके लिए अनुकूल नहीं पड़ सकते थे। संक्षेप में प्रत्येक काण्डों की समीक्षा इस प्रकार है:—

बालकाण्ड—इसमें राम की बाल्यावस्था के सजीव सुन्दर और कोमल चित्र अंकित हैं। ४४ पदों में राम का बाल चित्रण है। बालकाण्ड में जनकपुर की स्त्रियों द्वारा राम की (किशोर मूर्ति की) सुन्दरता एवं भक्ति भावना की सर्वाङ्ग पवित्र चित्रावली उपस्थित करते हुए इस प्रसंग को कवि ने बड़े विस्तार से वर्णित किया है।

अयोध्याकाण्ड—इसमें कैकयी दशरथ सम्वाद का वर्णन नहीं है। किन्तु प्रभु के तापसवेष का वनमार्ग में ग्रामीण स्त्रियों के द्वारा जो वर्णन आया है, वह भक्ति के दृष्टिकोण से अत्यन्त श्रेष्ठ है। 'मानस' की अपेक्षा चित्रकूट के प्रसंग में प्रसन्न और राग के वर्णन भी मिलते हैं, जो कवि के दूसरे किसी ग्रन्थ में नहीं प्राप्त हैं। माता की करुणामयी भावना का वर्णन यहाँ ही मिलता है। इस काण्ड में कथा की प्रधानता न होकर भावों की ही प्रधानता है।

अरण्यकाण्ड—इसमें 'मानस' की भाँति कथा का निर्वाह नहीं किया गया है। क्योंकि जयन्त-छल, अत्रि एवं अनसुइया से लक्ष्मी वन में राम लक्ष्मण और सीता का मिलाप, विराध-वध, शरभंग, अगस्त्य एवं सुतीक्ष्ण से प्रभु मिलन, शूर्पणखा प्रसंग खर दूषण वध, रावण और मारीच का वार्तालाप, राम और नारद मिलन तथा उनका भक्ति संवाद आदि अनेक कथाओं का संकेत भी नहीं है। क्योंकि ये घटनाएँ वर्णनात्मक और वीरात्मक हैं जो कोमल भावनाओं से युक्त न होने के कारण छोड़ दी गयी हैं। रामचन्द्रजी की भक्तवत्सलता से सम्बन्धित होने के कारण गीध प्रसंग पूर्वापर से सारतापूर्ण होने पर भी ले लिया गया है। शबरी के प्रसंग में भी यही बात है। इस काण्ड में कोमल भावनाओं का सुन्दर वर्णन मिलता है।

किष्किन्धाकाण्ड—इसमें केवल दो पद ही लिखे गए हैं। कथा की दृष्टि से और 'मानस' में प्रकृति चित्रण के साथ जो उपदेशों का वर्णन मिलता है, इन दोनों का इसमें अभाव है।

सुन्दरकाण्ड—इसमें 'मानस' की भाँति अशोक-वाटिका विध्वंस एवं लंका दहन के प्रसंग छूट गए हैं। रस की दृष्टि से, जिसमें कि वीररस, वियोग-शृङ्गार और रौद्र रसों के अतिरिक्त शान्तरस को भी अपनाया गया है,

यह काण्ड श्रेष्ठ है। विभीषण का राम के समीप आकर सेवा में लग जाना तुलसीदासजी की अपनी आत्माभिव्यक्ति का द्योतक है। वियोग-शृङ्गार के वर्णन में सीता के हृदय की मर्मस्पर्शिनी व्यथा, वीररस में श्रीरामचन्द्रजी का सैन्य-सञ्चालन, रौद्ररस में रावण के प्रति हनुमानजी की ललकार तथा शान्तरस में विभीषण के उद्गार का वर्णन अत्यन्त श्रेष्ठ है। इस काण्ड में गीति-काव्य का पूर्ण निर्वाह करने का प्रयत्न किया गया है।

लंकाकाण्ड—इसमें सबसे बड़ी बात यह है कि राम रावण युद्ध, जिसके आधार पर इस काण्ड का नामकरण भी 'युद्ध काण्ड' किया गया है, नहीं वर्णित है। अंगद रावण के संवाद के बाद ही लक्ष्मण शक्ति का वर्णन कर दिया गया है। इस काण्ड में वास्तव में वीररस का ही अधिक वर्णन होना चाहिए था, किन्तु वीररस के बदले करुणरस का वर्णन आया है। इसमें हनुमानजी की वीरता के कुछ पद आ गए हैं और इसी प्रकार कथा को समाप्त करते हुए कवि ने लक्ष्मण शक्ति के बाद ही भगवान रामचन्द्रजी की विजय एक ही पद में वर्णित की है।

उत्तरकाण्ड—इसमें वाल्मीकि रामायण और कृष्ण काव्य से प्रभावित वर्णन मिलता है। इन दोनों के संग तुलसीदास की कथा वर्णन की मौलिकता के दर्शन भी होते चलते हैं। रामराज्याभिषेक, सीता वनवास, लव कुश जन्म आदि कथाएँ तो वाल्मीकि रामायण की सी हैं, हिंडोला, नख शिख वर्णन कृष्ण काव्य की सी है। बालकाण्ड के समान ही अवस्था-भेद के साथ इस काण्ड के प्रारम्भ में रामचन्द्रजी के सौन्दर्य का चित्रण किया गया है। इस काण्ड में भी मानस की भाँति सम्पूर्ण राम कथा का सारांश दे दिया गया है। इसमें हिंडोला आदि वर्णना के आ जाने से रामचन्द्रजी की जिस मर्यादा का उचित संरक्षण 'मानस' में किया गया है वह इस ग्रंथ में नहीं पाया है।

ऊपर लिखा जा चुका है कि गीतावली में भावनाओं की ही प्रधानता है घटनाओं की नहीं। इसलिए इसमें कथा का आनुपातिक विस्तार है, जिसमें भावनात्मक चित्रण विशेष मार्मिक हैं। राम का सौन्दर्य-वर्णन विशेष ढंग से मिलता है। लोकशिक्षण की ओर कवि का ध्यान मानस की भाँति नहीं

गया है। 'मानस' की भाँति सभी पात्रों के चरित्र चित्रण का महत्त्व नहीं दिया गया है। गीति काव्य के आदर्शों के संरक्षण में 'मानस' की भाँति सभी घटनाएँ नहीं आयी हैं, उसमें करुण तथा ओजपूर्ण स्थल तो सारी गीतावली में छूट ही गए हैं। इतना सब कुछ होने पर भी हृदय के विविध भावों की अभिव्यक्ति गीतावली के मधुर पदों में हुई है। गीतावली की रचना ब्रज भाषा में हुई है जिसमें भाषा पर कवि का अच्छा अधिकार दिखाई पड़ता है। इसमें काव्य कला की दृष्टि से सबसे अधिक मधुर भावों की अभिव्यक्ति है। डाक्टर रामकुमार वर्मा के शब्दों में 'तुलसीदास गीति काव्य के अंतर्गत केवल सौन्दर्य की सृष्टि कर सके, किसी उत्कृष्ट काव्यादर्श की नहीं। न तो वे 'विनय पत्रिका' के समान आत्म निवेदन ही कर सके और न 'मानस' के समान कथा प्रसंग की सृष्टि ही। अतः 'गीतावली' एकान्त 'माधुर्य' की रचना है।' *

रस की दृष्टि से कुल मिलाकर 'गीतावली' शृंगार रस प्रधान रचना है। डा० रामकुमार वर्मा के शब्दों में (१)—'यदि वात्सल्य को भी शृंगार रस के अन्तर्गत मान लिया जावे, तब तो संयोग शृंगार ही प्रधान हो जाता है, क्योंकि—राम का बाल-वर्णन संयोगात्मक अधिक है, वियोगात्मक कम। इसके विपरीत कृष्ण का बाल वर्णन वियोगात्मक अधिक है, संयोगात्मक कम।

'(२) 'तुलसी ने रामकथा का जैसा निरूपण किया है, उसके अनुसार भी शृंगार रस को प्रधान स्थान मिलता है। राम के उन्हीं चरित्रों का दिग्दर्शन अधिक कराया गया है, जो कोमल भावनाओं के व्यंजक हैं।

"(३)—'गीतावली' का अन्तिम भाग कृष्ण काव्य से प्रभावित होने के कारण भी अधिक शृंगारात्मक बन गया है। बसन्त और हिंडोला आदि अवतरणों ने तो शृंगार की ओर भी अभिवर्धित कर दिया है।'

'गीतावली' में राम का बाल वर्णन, सीता स्वयम्वर, विवाह, वन गमन, चित्रकूट वर्णन और राम के पञ्चवटी जीवन का वर्णन तथा राम के नख शिख

* 'हिन्दी सा० का आ० इतिहास' द्वितीय सस्करण पृ० ४०३।

और हिंडोला, वसन्त आदि के वर्णनों में शृंगार रस के वर्णन का उत्कृष्ट पदावलियाँ मिलेंगी। इसके अतिरिक्त वियोग-शृंगार के वर्णन में कवि को विशेष सफलता प्राप्त हुई है। जीवन की वास्तविक परिस्थितियों के वर्णन में वियोग-शृंगार विशेष सफल हुआ है। अयोध्याकाण्ड में वियोग शृंगार तो अपनी चरम सीमा पर है।

करुण रस का वर्णन अयोध्या-काण्ड के पद १२२ और ५७२ में दशरथ मरण के प्रसंग में, इसी प्रकरण के पद दूसरे से चौथे तक कौशल्या विलाप और लङ्का काण्ड के लक्ष्मण शक्ति के बाद राम विलाप के अन्तर्गत पाँचवें से सातवें पद में मिलता है, जो अत्यन्त मार्मिक है।

हास्यरस का वर्णन तो कवि ने 'गीतावली' में सफलता पूर्वक लाने की' जान पड़ता है चेष्टा ही नहीं की है। यह बाल काण्ड के ६५वें पद में वर्णित अवश्य है, किन्तु अन्य रसों की भाँति उत्कृष्ट नहीं है।

वीररस के लिए यद्यपि इस गीति-काव्य संग्रह में विशेष उपयुक्त अवसर नहीं था, किन्तु सुन्दर-काण्ड के १२वें, १८वें पद में जहाँ हनुमान रावण प्रसंग है, अरण्यकाण्ड के आठवें पद में जहाँ जटायु रावण युद्ध प्रसंग है और लंका काण्ड में ८, ९, तथा १०वें पद में जहाँ हनुमान का संजीवनी लाने के लिए प्रस्थान का प्रसंग है, उत्तम व्यंजना है। इसी प्रकार बाल काण्ड के ८९वें पद में धनुष चढ़ाने के प्रसंग में राम तथा लक्ष्मण का उत्साह तथा धनुर्भंग की प्रचंडता का वर्णन भी अत्यधिक वीरोल्लासपूर्ण है। जनकजी के कहने पर —

> "सप्त दीप नव खण्ड भूमि के भूपति बृन्द जुरे।
> बड़ो लाभ कन्या कीरति को, जहँ तहँ महिप मुरे॥
> डग्यो न धनु, जनु बीर बिगत महि, किधौं कहुँ सुभट दुरे।"

वीर लक्ष्मण कहते हैं —

> "रोष लखन बिकट भृकुटी करि, भुज अरु अधर फुरे॥
> सुनहु भानुकुल कमल भानु ! जो अब अनुसासन पावौं।
> का बापुरो पिनाकु, मेलि गुन मंदर मेरु नवावौं॥

देखी निज किंकर को कौतुक, क्यों कोदण्ड चढ़ायो ।
ले धायो, भंजौं मृनाल ज्यों, तौ प्रभु अनुग कहायो ॥"

इसी प्रकार लक्ष्मण मूर्च्छा पर राम की व्याकुलता देख हनुमानजी के वचन :—

'जौं हौं अब अनुसासन पावौं ।
तौ चन्द्रमहिं निचोरि चैल ज्यों आनि सुधा सिर नावौं ॥
कै पाताल दलौं व्यालावलि अमृत कुण्ड महि लावौं ॥
भेदि भुवन करि भानु बाहिरो तुरत राहु दै तावौं ॥
बिबुध बैद बरबस आनौं धरि तौ प्रभु अनुग कहावौं ॥
पटकौं मीच नीच मूषक ज्यों सबहि को पापु बहावौं ॥'

आदि वीररस के श्रेष्ठ नमूने हैं ।

रौद्र तथा भयानक रस के वर्णनों का यहीं अवसर कवि को मिल सकता था, वह था राम रावण युद्ध का स्थल । किन्तु इस ग्रन्थ में यह कथा आने ही नहीं पायी है । इसके अतिरिक्त अयोध्याकाण्ड के ६० व ६१ वें पद में, जहाँ कैकेयी के प्रति भरत की और लंकाकाण्ड में दूसरे तथा चौथे पद में जहाँ रावण के प्रति अंगद की भर्त्सना वर्णित है —

"ऐसे तें क्यों कटु बचन कह्यो री ?
'राम जाहु कानन', कठोर तेरो कैसे धौं हृदय रह्यो री ॥ १ ॥
दिनकर बंस, पिता दशरथ से राम लखन से भाई ।
जननी ! तू जननी ? तौ कहा कहौं विधि केहि खोरि न लाई ॥ २ ॥
* * * * *
तुलसीदास मोको बड़ो सोच है, तू जनम कौन विधि भरिहै ॥" ४ ॥
—(अयोध्याकाण्ड गीतावली)
"तू दसकंठ भले कुल जायो ॥"—(लंकाकाण्ड पद २ गीतावली)
"तैं मेरा मरम कछू नहिं पायो ॥"— (,, , ३ ,,)
'सुनु खल ! मैं तोहि बहुत बुझायो ॥' (, ४ ,,)

आदि रौद्ररस के उदाहरण मिलते हैं ।

राम का लंका प्रस्थान के प्रसंग में सुन्दर-काण्ड के अन्तर्गत भयानक रस का वर्णन बड़ी ओजस्विनी भाषा में हुआ है--

"जब रघुवीर पयानो कीन्हों।
छुभित सिन्धु डगमगत महीधर, सजि सारंग कर लीन्हों। १
* * * * *
तुलसीदास गढ़ देखि फिरे कपि, प्रभु आगमन सुनाए ॥ ११ ॥"
—(सुन्दरकाड पद २२ गीतावली)

वीभत्स रस का वर्णन गीतावली में नहीं आ सका है। क्योंकि युद्ध की विकरालता का वर्णन जहाँ राम रावण युद्ध में संभव था, उसे न आने से इसके वर्णन का अवसर ही नहीं मिल सका।

अद्भुत रस का साधारण वर्णन गीतावली में मिलता है। बाल काण्ड में १, २, १२ और २२वाँ पद, जहाँ राम का बाल वर्णन है, अयोध्या काड में १७-४२ पदों में जहाँ वन मार्ग में तपस्वी वेष में राम, लक्ष्मण और जानकी के प्रति लोगों का आकर्षण दिखाया गया है और लंकाकाड में हनुमानजी के संजीवनी लाने के वर्णन में १०वें, ११वें पदों में अद्भुत रस की व्यंजना हुई है।

शान्त रस का वर्णन सुन्दरकाड के अन्तर्गत ३७ से ४६ पदों –(मात्र दस पद)के मध्य मिलता है, जिसमें विभीषण का रामचन्द्रजी की शरण में आने का प्रसंग आता है।

डा० रामकुमार वर्मा के मतानुसार 'गीतावली' में कवि के रस निरूपण में एक दोष है –"कि उसमें शृङ्गार को छोड़ अन्य रसों में आत्मानुभूति नहीं है। अपर रसों की व्यंजना तो कहीं-कहीं केवल उद्दीपन विभावों के द्वारा ही की गयी है। यह भी देखने में आता है कि स्थायीभाव के चित्रण के बाद तुलसीदास ने संचारीभावों के चित्रण का प्रयत्न बहुत कम किया है।'

कुछ भी हो इतना तो मानना ही होगा कि 'गीतावली' में अनेक स्थलों पर कवि ने मनोदशाओं के अनेक करुणचित्र अंकित कर रचना को सजीव कर दिया है। यद्यपि गीतावली में 'मानस' और 'विनयपत्रिका' की भाँति

आध्यात्मिक तथा दार्शनिक सिद्धान्तों की झलक नहीं के बराबर है, किन्तु राम-कथा के कोमल अंशों का प्रदर्शन तो इस ग्रन्थ में सफलतापूर्वक हुआ ही है।

छन्द की दृष्टि से 'गीतावली' में कोई छन्द विशेष रूप से न आकर आसावरी, जयतश्री, बिलावल, केदारा, सोरठ, धनाश्री, कान्हरा कल्याण, ललित, विभास, नट, टोड़ी, सारंग, सूही, मलार, गौरी, मारू, भैरव, चचरी बसन्त तथा रामकली आदि रागों की योजना के दर्शन होते हैं।

विनय-पत्रिका—रचनाकाल के सम्बन्ध में बेणीमाधवदास ने तो सं० १६२६ के लगभग माना है, किन्तु कुछ विद्वानों ने इसका रचनाकाल सं० १६३६ और १६८० के बीच माना है।

वर्ण्य विषय की दृष्टि से विनय पत्रिका में कोई कथा ऐसी नहीं है, जो प्रबन्धात्मक काव्य के लिए उपयुक्त हो। इस ग्रन्थ में भक्ति सम्बन्धी कवि की याचना है, जिसमें कवि अपने आराध्य से अपने उद्धार के लिए विनय करता है। गोस्वामी तुलसीदासजी स्मार्त-वैष्णव थे, इसीलिए विनय पत्रिका में इन्होंने पाँचों देवताओं की स्तुति से रचना प्रारम्भ की है। स्मार्त वैष्णव के अनुसार जो पाँच देवता माने गये हैं उनके नाम हैं— विष्णु, शिव, दुर्गा, सूर्य तथा गणेश। भगवान श्रीरामचन्द्रजी विष्णु रूप हैं, जिनकी स्तुति तो ग्रन्थ के अन्दर सबसे अधिक है, आरम्भ में शेष चारों देवताओं की वन्दना की गयी है। पदों में रचना होने से विनय पत्रिका मुक्तक रचना है, जिसमें सम्पूर्णतः प्रबन्धात्मकता की रक्षा नहीं हो सकती थी। इसमें कवि ने भाव निवेदन किया है, जिसमें भावों का नियमन नहीं हो सका है।

किन्तु श्रीवियोगीहरिजी ने यह नहीं माना है, वे लिखते हैं

'कोरा काव्य होते हुए भी विनय पत्रिका का क्रम बड़ा ही सुन्दर है। किसी किसी के मत में यह ग्रन्थ गोसाईंजी के फुटकर पदों का संग्रह मात्र है, पर हमें यह कथन सत्य नहीं जान पड़ता। हो सकता है इसके कुछ पद समय-समय पर बनाए गए हों किन्तु इसकी रचना यथाक्रम ही हुई है। राजा-महाराजा के पास कोई बाला-बाला अर्जी नहीं भेजता। पहले दरबार के मुसाहबों को मिलाना

पन्ता है, तब कहीं पेठ होती है। इस बात को ध्यान में रखकर गोसाईजी ने पहले देवी देवताओं को मनाया है तब कहीं हुजूर में अर्जी पेश की है। सिद्ध-गणेश श्रीगणेशजी की वन्दना से किया गया है। फिर भगवान् भास्कर की वन्दना की गयी है। अनेक जन्म सचित अविद्या अन्धकार के दूर करने के लिए मरीचिमाली की स्तुति युक्तियुक्त ही है। फिर पार्वती वल्लभ जगद्गुरु शिव का गुणगान किया गया है। यहीं से कल्याण का प्रशस्त पथ दृष्टिगोचर होता है। कलि को डराने धमकाने के लिए भीषणमूर्ति भैरव का भी ध्यान किया गया है। तदनन्तर पार्वती, गंगा, यमुना, काशी और चित्रकूट का यशगान किया गया है। अब यहाँ से हनुमानजी की वन्दना प्रारम्भ होती है। यह गोसाईं जी के खास वकील हैं। इनके आगे अपनी सारी व्यथा-कथा खोल कर रख दी है। इसके बाद लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न से विनय की है। यहाँ तक दरबार के सारे मुसाहिब साध लिए गए हैं। अब किसी की ओर से कोई शका नहीं है। श्रीरघुनाथजी के सामने अपनी चर्चा छेड़ने के लिए गोसाईं जी ने जनकनन्दिनीजी को क्या ही उक्ति बताई है—

"कबहुँक अंब अवसर पाइ।
मेरियौ सुध द्याइबी कछुक करुन कथा चलाइ ॥"

किसी पद में स्वामी का प्रभुत्व, तो किसी में सौहार्द या किसी में औदार्य एवं शील प्रदर्शित किया गया है। किसी पद में जीव का असामर्थ्य, किसी में आत्म ग्लानि या किसी में मनोराज्य दिखाया गया है, किसी पद में अपनी राम-कहानी सुनाई गई है तो किसी में अत्याचार पीड़ित मानव समाज का प्रतिनिधित्व स्वीकार किया गया है। इस प्रकार २७६ पद तक पत्रिका लिखी गयी है। पत्रिका पूरी हो चुकी। अब पेश कौन करे? फिर हनुमान, शत्रुघ्न, लक्ष्मण और भरत से प्रार्थना की गयी। सेवक होने के कारण अगुआ बनने का किसी को साहस न हुआ। एक दूसरे का मुँह देखने लगे। पर सब में लक्ष्मण अधिक ढीठ थे। उनपर श्रीरामचन्द्रजी का अपरिमित वात्सल्य स्नेह था। सो उन्होंने पत्रिका पेश की। यहीं ग्रन्थ समाप्त होता है।*

* दे० 'विनय पत्रिका' श्रीवियोगीहरिजी कृत टीका, पृ० १५, १६ और १७।

विनयपत्रिका में छः प्रकार के पद हैं—१ प्रार्थना या स्तुति, २ स्थानों का वर्णन, ३—मन के प्रति उपदेश, ४—संसार की निस्सारता, ५ ज्ञान वैराग्य वर्णन और ६—आत्मचरित संकेत।

प्रार्थना या स्तुति जिनके अन्तर्गत गणेश से राम तक की वन्दना की गई है, स्तवों और कथाओं द्वारा गुण वर्णन के पद हैं और रूप वर्णन दशावतारों द्वारा तथा राम की भक्ति-भावना पदों के अन्तिम पंक्ति के द्वारा की गई है। स्थानों के वर्णन में चित्रकूट तथा काशी का विवरण मिलता है। राम की प्रार्थना के प्रसङ्ग में राम की लीला, नखशिख वर्णन, हरिशंकरी पद, दशावतार नामों महिमा तथा आत्म-निवेदन के भावों की व्यञ्जना हुई है।

इस ग्रन्थ में वर्णित भावनाएँ स्वतन्त्र हैं। कहीं कवि संसार की निस्सारता का वर्णन करता है, तो कहीं मन को उपदेश देता है। रचना में कहीं कवि के व्यक्तिगत जीवन की व्यञ्जना है; तो कहीं भगवान् के दशावतारों से सम्बन्ध रखनेवाली उदारता तथा भक्तवत्सलता की पौराणिक कथाओं की झलक है। यही कारण है कि गणिका, अजामिल, गज, व्याध और अहल्या आदि की इतिवृत्तों का बारम्बार आवर्त्तन हुआ है। क्योंकि कवि का हृदय भक्ति से भरा है, जिससे वह भगवान् के गुणगान में सर्वथा संलग्न है और राम की भक्ति में वह अनेक साधना पद्धतियों पर अनेक पदों के द्वारा प्रकाश डालता है।

भक्तिकाल में तुलसीदास के पूर्व विद्यापति कबीर और सूरदास ने जिस गीत पद्धति पर भक्ति भावना की अभिव्यञ्जना की थी, उसे इन्होंने भी अपनाया। विद्यापति ने जयदेव का अनुकरण करते हुए 'गीतगोविन्द' की रचना शैली को अपनाया; किन्तु राधाकृष्ण का गुणगान करते हुए भी वे शुद्ध भक्ति-भावना की स्थापना अपने पदों में न कर पाये। इसी प्रकार महात्मा कबीर की रचना भी भक्तियुक्त होने पर भी साकार रूप के निरूपण में न आ सकी। क्योंकि आत्मसमर्पण की भावना उनकी रचना में स्थिर ही न हो सकी। एकेश्वरवाद की भावना तथा रहस्यवाद की अनुभूति इन दोनों ने मिलकर कबीर की भक्ति को उपासना का रूप दे दिया था, जिससे स्पष्ट है कि विद्यापति और कबीर महात्मा तुलसी के समक्ष भक्ति का कोई

नहीं उपस्थित कर सके थे। रह सूरदास, सूरदास की उपासना की दृष्टि तथा तुलसीदास की उपासना के दृष्टिकोण से भिन्न था। उनकी (सूरकी) भक्ति सख्यभाव के अन्तर्गत है और तुलसी की भक्ति दास्यभाव के अन्तर्गत। मैं सूर की रचना में संस्कृत की कोमलकान्त पदावली एवं अनुप्रासों की वह योजना नहीं है जो तुलसीदास की रचना में पाया जाता है। आचार्य शुक्लजी लिखते हैं "भक्त शिरोमणियों की रचना में यह भेद ध्यान देने योग्य है और इस पर ध्यान अवश्य जाता है। गोस्वामीजी की रचना अधिक संस्कृत गर्भित है पर इसका अभिप्राय यह नहीं है कि उनके पदों में शुद्ध देश भाषा का माधुर्य नहीं है। इन्होंने दोनों प्रकार की मधुरता का बहुत ही अनूठा मिश्रण किया है।"[*]

इसके अतिरिक्त गोस्वामीजी के समकालीन कवियों ने भी पुष्टि मार्ग का अवलम्बन कर भक्ति की विवेचना की, परन्तु उनकी रचनाओं में भक्ति भावना का समावेश होते हुये भी आत्म समर्पण की भावना की व्यंजना नहीं हो पाई है। इस विचार से 'विनय पत्रिका' हिन्दी साहित्य में एक मौलिक दृष्टिकोण देती है। तुलसीदास की इस रचना में (दास्य भाव की भक्ति में) आत्मा की समग्र वृत्तियों की व्यंजना सरल रूप से हुई है।

विनय पत्रिका में कवि ने संगीत का आधार ग्रहण किया है। दैन्य और करुणा की भावना में जयतश्री, केदार, सारंग तथा आसावरी, रोष की भावना में मारू और कान्हरा, शृंगार की भावना में ललित, गौरी, सूहा और वसन्त, शान्त की भावना में रामकली, विभास, कल्याण, मलार और टोड़ी का राग प्रयोग में लाया गया है। तुलसीदास ने विशेष रागिनी में भावना विशेष के लिए रचना की है। कुल मिलाकर विनय पत्रिका के अन्तर्गत इक्कीस रागों में आत्म निवेदन है। जिनके नाम हैं—विलावल, धनाश्री, रामकली, वसन्त, मारू भैरव, कान्हरा, सारंग, गौरी, दण्डक, केदारा, आसावरी, जयतश्री, विभास, ललित, टोड़ी, नट, मलार, मारू, भैरवी और कल्याण। इस प्रसंग में भावों

[*] आचार्य शुक्ल का हि० सा० का इतिहास' परिवद्धित सं० पृ० १८५।

का तात्पर्य रस नहीं है।

विनय पत्रिका में एक ही रस की व्यंजना है वह है शान्त रस। इतर भाव उसके सचारी होकर ही आए हैं। 'विनय पत्रिका' में शान्त रस की जितनी मार्मिक व्यंजना हुई है 'मानस' को छोड़कर किसी और ग्रन्थ में वह देखने को नहीं मिलती। 'विनय पत्रिका', में शान्त रस के प्राबल्य में किसी और रस के प्रस्फुटन का अवसर कवि को नहीं मिल सका है क्योंकि इसमें कवि की आत्म निवेदन की ही भावना प्रबल है, जितने और भी रस रचना में आए वे सब शान्त रस के ही सचारी बन गये हैं। सूरदास के भी विनय के पद महत्त्वपूर्ण हैं किन्तु तुलसी के विनय के पदों की भांति उनमें अनुभूति का साम्राज्य नहीं है। जो प्रौढ़ता तुलसीदास के स्थायीभाव में झलकती है वह सूरदास के स्थायीभाव में नहीं मिलती। क्योंकि रस के आलम्बनविभाव की रामचरित ने जो कि अवधेश और मर्यादा पुरुषोत्तम से विभूषित हैं बहुत सहायता दी है। सूरदास को कृष्ण चरित से यह उपकरण नहीं प्राप्त हो सका है। दूसरा कारण यह है कि तुलसीदास की उपासना दास्यभाव की है जिससे आत्म निवेदन में भी प्रौढ़ता आ गयी है।

विनय पत्रिका की रचना में जितने विनय सम्बन्धी पद हैं वे निम्नश्रेणियों में विभक्त किए जा सकते हैं :—

१— दीनता— 'कैसे देउँ नाथहि खोरि।
काम लोलुप भ्रमत मन हरि, भगति परिहरि तोरि ॥'

२ —मानमर्षता— 'काहे ते हरि ! मोहि बिसारो।
जानत निज महिमा, मेरे अघ, तदपि न नाथ सँभारो ॥
नाहिन नरक परत मो कहँ डर, जद्यपि हौं अति हारो।
यह बड़ि त्रास दासतुलसी प्रभु, नामहु पाप न जारो॥'

'इसर कारन कौन गोसाईं।
जेहि अपराध असाधु जानि मोहि तजेउ अग्य की नाईं।
जद्यपि नाथ ! उचित न होत अस प्रभु सों करौं ढिठाई ॥
तुलसिदास सीदत निसिदिन देखत तुम्हारि निठुराई ॥"

३—भय दर्शना 'राम कहत चलु राम कहत चलु ।'
४—मनोराज्य "कबहुँक हौं इहि रहनि रहौंगो"
५—विचारणा 'केसव कहि न जाइ का कहिए।'
६ दीनता—वैराग्य या निर्वेद सम्बन्धी पद
'अबलौं नसानी, अब न नसैहौं ॥'
७ ग्लानि—'ऐसी मूढ़ता या मन की।"
८—विषाद सम्बन्धी पद 'रघुबर रावरि यहै बड़ाइ'
९—चिंता सम्बन्धी पद—'ऐसे राम दीन हितकारी ॥"
इन उपर्युक्त श्रेणियों में विनय के सभी पद आ जाते हैं।

विनय-पत्रिका में काव्य-सौष्ठव—यों तो 'रामचरित-मानस' जो गोस्वामीजी की ही रचना समग्र हिन्दी साहित्य की सर्वश्रेष्ठ रचना है साहित्य शास्त्र के सभी लक्षण यथास्थान प्राप्त होते हैं, ध्वनि, रस अलंकार-योजना भावाभिव्यंजना प्रवणता आदि का साक्षात्कार होता रहता है। किन्तु विनय पत्रिका में भी काव्य की उत्कृष्टता का थोड़ा प्रसंग उपस्थित करना आवश्यक है।

गोस्वामीजी के सभी ग्रन्थ धर्म प्रधान साहित्यिक ग्रन्थ हैं। विनय पत्रिका भी भक्ति प्रधान ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में जो उक्ति वैचित्र्य देखने को मिलता है और जो अर्थ गौरव का जीता जागता वर्णन मिलता है वह अन्य कवियों की रचनाओं में बहुत कम पाया जाता है। कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं —

"नाहिन नरक परत मो कहँ डर जद्यपि हौं अति हारा।
यह बड़ि त्रास दासतुलसी प्रभु नामहु पाप न जारा ॥"

अर्थात्—मुझे सुगति पाने की चिंता नहीं है, चिंता है तो केवल इस बात की कि प्रभु की अनन्त शक्ति की भावना बाधित हो गई।

एक दूसरा पद

'विषय बारि मनमीन भिन्न नहिं होत कबहु पल एक।
तातें सहौं विपति अति दारुन जनमत जोनि अनेक ॥

कृपा डोरि बनसी पद अंकुस, परमप्रेम मृदु चारो।
एहि विधि बेधि हरहु मेरो दुख कौतुक राम तिहारो ॥"

इस-पद में कितनी अनूठी युक्ति है। इसी प्रकार एक पद और:—

"मैं केहि कहौं बिपति अति भारी। श्रीरघुबीर धीर हितकारी।
मम हृदय भवन प्रभु तोरा। तहँ बसे आइ प्रभु चोरा ॥
अति कठिन करहिं बरजोरा। मानहिं नहिं बिनय निहोरा ॥
तम, मोह, लोभ, अहँकारा। मद, क्रोध, बोध रिपुमारा ॥

*   *   *   *

कह तुलसिदास सुनु रामा। लूटहिं तस्कर तव धामा ॥
चिन्ता यह मोहि अपारा। अपजस नहिं होइ तुम्हारा ॥"

कितनी सुन्दर युक्ति है। इस प्रकार के पद विनय पत्रिका में भरे पड़े हैं। स्थानाभाव से विशेष विवरण नहीं उपस्थित किया जा सकता। अन्त में हम इतना कहकर इस प्रसंग को समाप्त करते हैं कि—विनय पत्रिका में भक्ति रस के अनेक इतने सुन्दर पद हैं जो हिन्दी-साहित्य के गौरव को बढ़ाने में बड़ा महत्त्व रखते हैं। आचार्य श्रीरामचन्द्रशुक्लजी के शब्दों में :—

"भक्ति रस का पूर्ण परिपाक जैसा विनय पत्रिका में देखा जाता है वैसा अन्यत्र नहीं। भक्ति में प्रेम के अतिरिक्त आलम्बन के महत्व और अपने दैन्य का अनुभव परम आवश्यक अंग है। तुलसी के हृदय में इन दोनों अनुभवों के ऐसे निर्मल शब्द-स्रोत निकले हैं, जिसमें अवगाहन करने से मन की मैल कटती है और अत्यन्त पवित्र प्रफुल्लता आती है।"*

रामचरित-मानस—इस ग्रन्थ का रचनाकाल सर्व सम्मति से सं० १६३१ माना जाता है। स्वयं कवि के ही शब्दों में इसका संकेत मिलता है— "संवत सोरह सौ इकतीसा। करौं कथा हरिपद धरि सीसा ॥" 'मानस' में राम-कथा का सांगोपांग वर्णन है। सारा ग्रन्थ सात काण्डों में विभक्त है।

* देखिए, विनय पत्रिका श्रीवियोगीहरिजी कृत हरितोषिणी टीका का भूमिका पृष्ठ १।

किसी किसी प्रति में क्षेपकांश मिलता है, जिससे छन्द संख्या निर्धारित करने में कठिनता होती है, किन्तु प्रामाणिक प्रतियों के आधार पर प० श्रीरामनरेश त्रिपाठीजी के अनुसार चौपाइयों की संख्या ४० ०७ और छन्द संख्या ६९६३ है* । प्रसिद्ध रामायणी स्वर्गीय श्रीरामदास गौड़जी ने 'रामचरित मानस' की भूमिका में 'सत पंच चौपाई मनोहर जानि जो नर उर धरै' के आधार पर 'अंकानां वामतो गतिः' रीति के अनुसार सत का अर्थ १०० और पंच का ५ लेकर ५१०० छन्द माना है S । इस संख्या से मिलती-जुलती श्रीचरणदासजी ने भी 'मानस मयंक' में लिखा है—'एकावन सत सिद्ध है चौपाई नर चारु । छन्द सोरठा दोहरा, दस हित दस हज्जारु ॥' अर्थात् चौपाइयों की संख्या ५१०० है तथा छन्द, सोरठा और दोहा सब मिलकर दस कम दस हजार है अर्थात् सम्पूर्ण छन्द संख्या ६६०० है ।

छन्द—कवि ने इस ग्रन्थ में जिन छन्दों में रचना की है उनकी संख्या १८ है प्रधान रूप से दोहा और चौपाई छन्द 'मानस' में प्रयुक्त हुए हैं इनके अतिरिक्त निम्नांकित छन्द भी हैं—

वर्णिक छन्द—स्रग्धरा, रथोद्धता, अनुष्टुप, मालिनी, वंशस्थ, तोटक, भुजंग प्रयात्, वसंततिलका, नगस्वरूपिणी, इन्द्रवज्रा और शार्दूलविक्रीडित ।

वर्ण विषय- 'वाल्मीकि रामायण', 'अध्यात्म रामायण', 'हनुमन्नाटक', 'प्रसन्न राघव' और श्रीमद्भागवत' आदि में परम्परा से वर्णित राम कथा का सांगोपांग वर्णन इस ग्रन्थ में तुलसीदासजी ने किया है । कथा का विस्तार 'वाल्मीकि रामायण' से, कथा का आधार 'अध्यात्म रामायण' से, नवीन घटनाएँ B 'हनुमन्नाटक' और 'प्रसन्न राघव' से तथा सूक्तियाँ 'श्रीमद्भागवत' से ली

---

* तुलसीदास और उनकी कविता—पृष्ठ २२१ ।

S 'रामचरित मानस' की भूमिका पृष्ठ ६४ ६५ (हिन्दी पुस्तक एजेन्सी कलकत्ता सं० १९८२) ।

B नवीन घटनाओं से पुष्प वाटिका वर्णन और लक्ष्मण परशुराम संवाद से तात्पर्य है ।

गयी है। इसके अतिरिक्त नीति और धर्म की सूक्तियों का वर्णन तुलसीदासजी ने अनेक अन्य ग्रन्थों के आधार पर किया है। श्रीरामनरेश त्रिपाठीजी का तो कथन है कि 'संस्कृत के सौ सौ ग्रन्थों के श्लोकों को भी चुन चुन कर उन्होंने उनका रूपान्तर करके 'मानस' में भर दिया है'* इन सभी कथनों का समर्थन स्वयं गोस्वामीजी ने 'मानस' में कर दिया है

'नाना पुराण निगमागम सम्मतं यद्रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा भाषानिबन्धमतिमंजुलमातनोति॥"

भगवान श्रीरामचन्द्रजी के मर्यादापूर्ण व्यापक जीवन के आधार पर गोस्वामी तुलसीदासजी ने लोक शिक्षा का आदर्श खड़ा किया है; जिसमें कथा भावपूर्ण और मनोहर हो गई है। यहाँ तक कलात्मक ढंग से कवि ने राम कथा के साथ धार्मिक एवं दार्शनिक सिद्धान्तों का भी निरूपण किया है। 'मानस' के पूर्व राम का चरित्र अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों में वर्णित है जैसे वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण और भागवत आदि में; किन्तु इन सभी रचनाओं की अपेक्षा तुलसीदास ने (यद्यपि आधार इन्हीं ग्रन्थों का लिया है किन्तु) इसमें मौलिकता लाने की चेष्टा की है। जैसे अहल्योद्धार प्रसंग में जो कथा 'वाल्मीकि रामायण में आई है—

रामलक्ष्मण ने देखा कि शिला रूप में अहल्या तप कर रही है, उसकी प्रभा के निकट मनुष्य, देवता तथा राक्षस कोई भी नहीं जा सकता। गौतम ऋषि के शाप से वह सब को दिखाई न पड़ती थी। क्योंकि उन्होंने शाप देते समय कहा था कि 'जब तक राम के दर्शन न होंगे तब तक त्रिलोकी का कोई भी व्यक्ति उसे देख न सकेगा'। अहल्या को मुनि पत्नी समझ कर भगवान श्रीराम और लक्ष्मण ने उसके चरण छुए। मुनिपत्नी अहल्या पति के वचनों का स्मरण कर उन दोनों के चरणों पर गिर पड़ी।

'ददर्श च महाभागां तपसा द्योतितप्रभाम्।
लोकैरपि समागम्य दुर्निरीक्ष्यां सुरासुरैः॥१२॥"

* —'तुलसीदास और उनकी कविता'। पृष्ठ १३३।

* *

"मा हि गौतम वाक्येन दुर्निरीक्ष्यावभूव ह।
नयाणामपि लोकाना यावद्रामस्यदर्शनम् ॥१६॥
राघवो तुनदातस्याः पादौ जगृहतुर्मुदा।
स्मरन्तौ गौतम वच. प्रति जग्राहसाहितो ॥१८॥"
— वा०रा० बालकांडे एकोनपंचाशः सर्गः)

क्योंकि गौतम ने श्राप दिया था, अहल्या के शरीर का यहीं भस्म होने के लिए :

'वात भक्षया निराहारा तप्यन्ती भस्म शायिनी।
अदृश्या सर्वभूतानामाश्रमेऽस्मिन्वसिष्यसि ॥३०॥"
— (वा० रा० बा० कांड ४८ सर्ग)

अर्थात् तू पवन का भक्षण कर, निराहार रहकर, भस्मशायिनी होकर, और समस्त प्राणियों से अदृश्य होकर आश्रम में निवास करेगी।

वही कथा 'अध्यात्म रामायण' में इस प्रकार है :-

'दृष्ट्वाहल्या वेपमाना प्राञ्जलिं गौतमोऽब्रवीत्।
दुष्टे त्वं तिष्ठ दुर्वृत्ते शिलायामाश्रमे मम ॥ २७ ॥
निराहारा दिवारात्रं तपः परममास्थिता ॥
आतपानिलवर्षादिसहिष्णुः परमेश्वरम ॥ २८ ॥
ध्यायन्ती राममेकाग्रमनसा हृदि संस्थितम् ॥
नाना जन्तु विहीनोऽयमाश्रमो मे भविष्यति ॥ २६ ॥"
-(अध्याम रा० बा० का० सर्ग ५।)

अर्थात् गौतम ऋषि ने कहा —'हे दुष्टे! तू मेरे आश्रय में शिला में निवास कर। यहाँ तू निराहार रहकर धूप, वायु और वर्षा आदि को सहन करती हुई दिन रात तपस्या कर और एकाग्र चित्त से हृदय में विराजमान परमात्मा राम का ध्यान कर। अब से यह मेरा आश्रम विविध जीव जंतुओं से रहित हो जाएगा।

इसके आगे और विश्वामित्र के कहने पर : —

"पावयस्व मुनेर्भार्यामहल्यां ब्रह्मणः सुताम् ॥
इत्युक्त्वा राघवं हस्ते गृहीत्वा मुनिपुंगवः ॥ ८५ ॥
दर्शयामास चाहल्यामुग्रेण तपसा स्थिताम् ॥
राम शिला पदा स्पृष्ट्वा तां चापश्यत्तपोधनाम् ॥ ८६ ॥
ननाम राघवोऽहल्या रामोऽहमिति चाब्रवीत् ॥
ततो दृष्ट्वा रघुश्रेष्ठं पीत कौशेयवाससम् ॥ ८७ ॥
चतुर्भुजं शंख चक्र गदा पंकज धारिणम् ॥
धनुर्बाण धरं रामं लक्ष्मणेन समन्वितम् ॥ ८८ ॥"
—(अ० रा० बा० का० सर्ग ५)

अर्थात् विश्वामित्र कहते हैं "हे राम ! तुम अब ब्रह्मा की पुत्री गौतम पत्नी अहल्या का उद्धार करो।" मुनिवर विश्वामित्र ऐसा कह रघुनाथजी का हाथ पकड़ उन्हें उग्र तप में स्थित अहल्या को दिखाया, तब श्रीरामचन्द्रजी ने अपने चरण से उस शिला को स्पर्श कर तपस्विनी अहल्या को देखा। उसे देखकर भगवान राम ने 'मैं राम हूँ' ऐसा कह कर प्रणाम किया। तब अहल्या ने रेशमी पीताम्बर धारण किए श्रीरघुनाथजी को देखा, उनकी चारों भुजाओं में शंख, चक्र गदा और पद्म सुशोभित थे, कन्धे पर धनुष बाण विराजमान थे और साथ में लक्ष्मणजी थे।

अब यही कथा 'मानस' में इस प्रकार है :—

"गौतमनारी श्राप बस उपल देह धरि धीर।
चरण कमल रज चाहति कृपा करहु रघुबीर ॥

*   *

परसत पद पावन सोक नसावन प्रगट भई तप पुञ्ज सही।
देखत रघुनायक जन सुखदायक सनमुख होइ करजोरि रही ॥

*   *

अतिसय बड़ भागी चरनन्हि लागी जुगल नयन जलधार बही ॥"

उपर्युक्त अवतरण में 'वाल्मीकि रामायण' के अन्तर्गत वर्णित कथा अनुसार अपना दृष्टिकोण न देकर तुलसीदासजी ने 'अध्यात्म रामायण' का

अनुवर्त्तन किया है। अर्थात् 'मानस' की अहल्या 'वाल्मीकि रामायण' की अहल्या की भाँति पाषाण रूप है, किन्तु 'अध्यात्म रामायण' की अहल्या की भाँति रामके चरणोंका स्पर्श करती है। यद्यपि 'वाल्मीकि रामायण' से 'अध्यात्म-रामायण' में वर्णित श्रीरामचन्द्रजी का व्यक्तित्व कुछ समान अवश्य है क्योंकि व 'वाल्मीकि रामायण' की भाँति 'अध्यात्म रामायण' में अहल्या के चरणों का स्पर्श न कर केवल उसे प्रणाम ही किये है। किन्तु 'मानस' में राम पूर्ण ब्रह्म हैं अतः व अहल्या को प्रणाम भी नहीं करते, बल्कि गम्भीरता से अपने 'पावन-पद' का उसे स्पर्श करा देते हैं। कहने का तात्पर्य है गोस्वामीजी ने भक्ति की पूर्ण प्रतिष्ठा भी 'मानस' में कर दी है। क्योंकि उनका अपने आराध्य के प्रति भक्तिपूर्ण दृष्टिकोण था। इतिवृत्तात्मकता के दृष्टिकोण से तुलसीदास ने 'वाल्मीकि रामायण' की अपेक्षा 'अध्यात्म रामायण' का अधिक अनुवर्त्तन किया है। 'मानस' में तुलसीदासजी ने राम कथा के साथ दार्शनिक और धार्मिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी किया है। परम्परा से आती हुई राम कथा को ग्रहण करने में तुलसीदास ने स्वतन्त्रता से काम लिया है। 'अध्यात्म रामायण' और 'वाल्मीकि रामायण' के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों से कथायें ली गयी हैं, जिनके द्वारा गोस्वामीजी ने आदर्श समाज और आदर्श-धर्म की प्रतिष्ठा में बड़ी सहायता प्राप्त की है। साहित्यिक दृष्टि से पात्र का चित्रण इतने सुन्दर ढंग से हुआ है कि प्रत्येक पात्र अपनी श्रेणी के लोगों के लिए आदर्श रूप है। इसी पात्र चित्रण के माध्यम से गोस्वामीजी लोक को शिक्षा देते हैं जो बड़ा ही हृदयग्राही वर्णन है। यों तो 'मानस' में अनेक पात्रों का चित्र है, किन्तु बारह पात्र मुख्य हैं जिनके नाम हैं शिव, पार्वती, दशरथ, जनक, कौशल्या, सुमित्रा, सीता, राम, भरत, लक्ष्मण, हनुमान और रावण। इन पात्रों के चित्रण में एक-एक आदर्श की प्रतिष्ठा की गयी है। क्रमशः इसका विवरण दे देना आवश्यक होगा।

१—शिव— जिनके चरित्र चित्रण में कवि ने भक्ति की प्रतिष्ठा की है। "भगवाना शिवः" के सिद्धान्तानुसार :—

'एहि तन सतिहि भेट मोहि नाहीं। सिव संकल्प कीन्ह मन माहीं॥

जस बिचारि सकर मतिधीरा । चले भवन सुमिरत रघुबीरा ॥
चलत गगन भै गिरा सुहाई । जय महेस भलि भगति दृढ़ाई ॥
अस पन तुम्ह बिनु करइ को आना । राम भगत समरथ भगवाना ॥'
'सिव सम को रघुपति व्रतधारी । बिनु अघ तजी सती असि नारी ।'
पनु करि रघुपति भगति देखाई । को सिव सम रामहि प्रिय भाई ॥

२ पार्वती — जिनके चरित्र चित्रण में कवि ने पातिव्रत धर्म की स्थापना की है

'जगदातमा महेस पुरारी । जगत जनक सब के हितकारी ॥
पिता मंद मति निन्दत तेही । दच्छ सुक्र संभव यह देही ॥
तजिहउँ तुरत देह तेहि हेतू । उर धरि चन्द्रमौलि बृषकेतू ॥
'सती मरत हरि सन बरु मागा । जनम जनम सिव पद अनुरागा ॥
'जनम कोटि लगि रगरि हमारी । बरौं संभु नतु रहौं कुआँरी ॥

३ दशरथ— इनके चरित्र चित्रण में कवि ने सत्य प्रतिज्ञा और पुत्र प्रेम की प्रतिष्ठा की है

'रघुकुल रीति सदा चलि आई । प्रान जाहु बरु बचन न जाई ॥
"नृप सत जेहि बचनहि लागा । तनु परिहरेउ राम बिरहागी ॥
'तुम्हहि बचन प्रिय नहिं प्रिय प्राना । करहु तात पितु बचन प्रमाना ॥'

पुत्र प्रेम

'राम चलत बन प्रान न जाही । केहि सुख लागि रहत तन माहीं ॥
एहि ते कवन ब्यथा बलवाना । जो दुख पाइ तजहिं तनु प्राना ॥
तदपि प्रान प्रिय तुम्ह रघुबीरा । मातु सनेह न छाड़य भीरा ॥
सुकृत सुजसु परलोक नसाऊ । तुम्हहि जान बन कहिहि न काऊ ॥
'राउ सुनाइ दीन्ह बनबासू । सुनि मन भयउ न हरषु हरासू ॥
सो सुत बिछुरत गए न प्राना । को पापी बड़ मोहि समाना ॥
भयउ बिकल बरनत इतिहासा । राम रहित धिग जीवन आसा ॥
सो तनु राखि करब मैं काहा । जेहि न प्रेम पनु मोर निबाहा ॥"

जिस समय विश्वामित्र अयोध्या जाकर दशरथ जी से राम की याचना

करते हैं उस समय दशरथजी कहते हैं

'सुनि राजा अति अप्रिय बानी। हृदय कंप मुख दुति कुमुलानी॥
चौथेपन पायउँ सुतचारी। विप्र बचन नहिं कहेहु बिचारी॥
मागहु भूमि धेनु धन कोसा। सर्बस देउँ आजु सहरोसा॥
देह प्रान तें प्रिय कछु नाहीं। सोउ मुनि देउँ निमिष एक माहीं॥
सब सुत मोहि प्रिय प्रान की नाईं। राम देत नहिं बनइ गोसाईं॥
"मेरे प्रान नाथ सुत दोऊ। तुम्ह मुनि पिता आन नहि कोऊ॥"

भगवान राम के वन चले जाने पर तो वे अपना प्राण त्यागकर ही देते हैं।

"राम राम कहि राम कहि, राम राम कहि राम।
तनु परिहरि रघुबर बिरहँ, राउ गयउ सुरधाम॥"

४ –जनक– इनके चरित्र चित्रण में भी सत्य प्रतिज्ञा की स्थापना की गई है—

"सुकृत जाइ जौं पन परिहरऊँ। कुअँरि कुआँरि रहउ का करऊँ॥"

५—कौशल्या—माता कौशल्या के चरित्र चित्रण में गोस्वामीजी ने धर्म और प्रेम की व्यंजना की है। राम को वन जाने की आज्ञा सुनकर कौशल्याजी धर्म संकट में पड़ जाती हैं :—

"राखि न सकइ न कहि सक जाहू। दुहूँ भाँति उर दारुन दाहू॥"
"धरम सनेह उभय मति घेरी। भइ गति साँप छुछुन्दरि केरी॥
राखउँ सुतहि करउँ अनुरोधू। धरमु जाइ अरु बंधु बिरोधू॥
कहउँ जान बन तौ बड़ि हानी। संकट सोच बिबस भइ रानी॥
बहुरि समुझि तिय धरमु सयानी। राम भरतु दोउ सुत सम जानी॥
सरल सुभाउ राम महतारी। बोली बचन धीर धरि भारी॥
तात जाउँ बलि कीन्हेहु नीका। पितु आयसु सब धरमक टीका॥"
"जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥"

६—सुमित्रा इनके चरित्र चित्रण में कवि ने धर्म प्रेम की प्रतिष्ठा

की है —

'जौं पै सीय रामु बन जाहीं। अवध तुम्हार काजु कछु नाहीं॥'

७— सीता— इनके चरित्र चित्रण में पातिव्रत धर्म की व्यंजना कवि ने की है

'प्राननाथ करुनायतन सुन्दर सुखद सुजान।
तुम्ह बिनु रघुकुल कुमुद बिधु सुरपुर नरक समान॥
मातु पिता भगिनी प्रिय भाई। प्रिय परिवारु सुहृद समुदाई॥
सासु ससुर गुर सजन सहाई। सुत सुन्दर सुसील सुखदाई॥
जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु तियहि तरनिहु ते ताते॥
तनु धनु धामु धरनि पुर राजू। पति बिहीन सबु सोक समाजू॥
भोग रोग सम भूषन भारू। जम जातना सरिस संसारू॥
प्राननाथ तुम्ह बिनु जगमाहीं। मोकहुँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं॥
जिय बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसिय नाथ पुरुष बिनु नारी॥"

'सिय मन राम चरन अनुरागा। घरु न सुगम बन बिषम न लागा॥'

"प्रभु करुनामय परम बिबेकी। तनु तजि रहति छाँह किमि छेंकी॥
प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाई। कहँ चन्द्रिका चन्दु तजि जाई॥"

* * *

"पितु बैभव बिलास मैं दीठा। नृपमनि मुकुट मिलित पद पीठा॥
सुखनिधान अस पितु गृह मोरे। पिय बिहीन मन भाव न भोरे॥
ससुर चक्कवइ कोसलराऊ। भुवन चारिदस प्रगट प्रभाऊ॥
आगे होइ जेहि सुरपति लेई। अरध सिंघासन आसनु देई॥
ससुर एतादृस अवध निवासू। प्रिय परिवार मातु सम सासू॥
बिनु रघुपति पद पदुम परागा। मोहि केउ सपनेहुँ सुखद न लागा॥
अगम पंथ बन भूमि पहारा। करि केहरि सर सरित अपारा॥
कोल किरात कुरंग बिहंगा। मोहि सब सुखद प्रान पति संगा॥"

८— राम —गोस्वामीजी ने भगवान् राम के चरित्र चित्रण में मानव जीवन के प्रत्येक अंग पर प्रकाश डाला है। भगवान राम के मर्यादापूर्ण

जिनके लिए परम कर्तव्य था, वे उसे भी छोड़ने के लिए तैयार थे।

"जथा पंख बिनु खग अति दीना। मनि बिनु फनि करिबर कर हीना॥
अस मम जिवन बंधु बिनु तोही। जौं जड़ दैव जिआवै मोही॥"

भक्त विभीषण की प्रार्थना करने पर कि—

"अब जन गृह पुनीत प्रभु कीजे। मज्जन करिअ समर श्रम छीजे॥"

"सुनत बचन मृदु दीन दयाला। सजल भए द्वौ नयन बिसाला॥
तोर कोष गृह मोर सब सत्य बचन सुनु भ्रात।
भरत दसा सुमिरत मोहि निमिष कल्प सम जात॥
तापस बेष गात कृस जपत निरंतर मोहि।
देखौं बेगि सो जतनु करु सखा निहोरउ तोहि॥
बीते अवधि जाउँ जौं जिअत न पावउँ बीर।
सुमिरत अनुज प्रीति प्रभु पुनि पुनि पुलक सरीर॥"

पत्नी प्रेम—

"बर्षागत निर्मल रितु आई। सुधि न तात सीता कै पाई॥
एक बार कैसेहु सुधि जानौं। कालहु जीति निमिष महँ आनौं॥
कतहुँ रहउ जौं जीवति होई। तात जतन करि आनउँ सोई॥"

"मातु कुसल प्रभु अनुज समेता। तव दुख दुखी सुकृपा निकेता॥
जनि जननी मानहु जिय ऊना। तुम्ह ते प्रेमु राम कें दूना॥"

"जे हित रहे करत तेइ पीरा। उरग स्वास सम त्रिबिध समीरा॥
कहेहू तें कछु दुख घटि होई। काहि कहौं यह जान न कोई॥
तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं॥"

प्रजा प्रेम—

"जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥"

सत्य-प्रतिज्ञा—

"सुनु सुग्रीव मारिहउँ बालिहि एकहि बान।
ब्रह्म रुद्र सरनागत गए न उबरिहि प्रान॥"

ऐसा प्रण कर चुकने पर जब सुग्रीव ने कहा कि :—

"बालि परम हित जासु प्रसादा। मिलेहु राम तुम्ह समन बिषादा ॥"

अर्थात्— 'बालि मेरा हितकारी है जिसकी कृपा से शोक का नाश करनेवाले आप मुझे मिले।' भाव यह है कि अब बालि को न मारकर अब ऐसी कृपा करें कि—"सब तजि भजन करौं दिनराती।" इस पर :—

"सुनि बिराग संजुत कपि बानी। बोले बिहँसि रामु धनु पानी ॥
जो कछु कहेहु सत्य सब सोई। सखा बचन मम मृषा न होई ॥"

सेवक प्रेम—"जो अपराध भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई ॥
लोकहुँ बेद बिदित इतिहासा। यह महिमा जानहिं दुरबासा ॥"

"राम सदा सेवक रुचि राखी। बेद पुरान साधु सुर साखी ॥"

"मम भुज बल आश्रित तेहि जानी। मारा चहसि अधम अभिमानी ॥"

"सुनु सुरेस कपि भालु हमारे। परे समर निसिचरन्ह जे मारे ॥
मम हित लागि तजे इन्ह प्राना। सकल जिआउ सुरेस सुजाना ॥"

"ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भए समर-सागर कहँ बेरे ॥
मम हित लागि जन्म इन्ह हारे। भरतहु ते मोहि अधिक पियारे ॥"

६—भरत—इनके चरित्र चित्रण में कवि ने मर्यादा और भ्रातृ प्रेम की झाँकी उपस्थित की है—

मर्यादा—"भरतहिं होई न राजमद बिधि हरिहर पद पाइ।
कबहुँ कि काँजी सीकरनि छीर सिन्धु बिनसाइ ॥

भ्रातृ प्रेम—'मानस' में भरतजी का जो चरित्र वर्णित है वह भी हिन्दी साहित्य में अनुपम है। भरत चरित्र के चित्रण में कवि ने अपनी विशाल हृदयता का परिचय दिया है। भगवान राम को छोड़ 'मानस' में भरत के समान विशाल हृदय कोई भी पात्र नहीं दिखाई पड़ता। भरत के विशाल-हृदय की विविध भावनाओं का कवि ने बड़ा ही हृदयग्राही वर्णन किया है। तुलसीदास की महानता (यहाँ श्रेष्ठ महाकवि होने से तात्पर्य है) का कारण (उनकी सारी कृतियों में) भरत चरित्र-वर्णन ही अधिक है। स्थानाभाव से भरत चरित्र का यहाँ विशेष विवरण देना सम्भव नहीं हो पा रहा है। किन्तु

थोड़ा सा उदाहरण दे देना आवश्यक है। भरत के चरित पर सभी मुग्ध हैं और तौलने में असमर्थ हैं :—

"राम चरन-पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजइ न पासू॥"
"तव निधु विमल तात जस तोरा। रघुवर किंकर कुमुद चकोरा॥"
वशिष्ठजी भरत के सम्बन्ध में कहते हैं—
"समुझब कहब करब तुम्ह जोई। धरम सार जग होइहि सोई॥"
"पुलक गात हियँ सिय रघुबीरू। जीह नाम जप लोचन नीरू॥
"अगम सनेह भरत रघुबर को। जहँ न जाइ मनु बिधि हरि हर को॥"
"अरथ न धरम न काम रुचि, गति न चहउँ निरबान।
जनम जनम रति राम पद यह बरदान न आन॥"
"सीताराम चरन रति मोरे। अनुदिन बढ़उ अनुग्रह तोरे॥"

भरतजी ने अपने हृदय में रामचरण प्रीति की गहराई की जाच भी कर ली। हनुमानजी को संजीवनी ले जाते समय बिना नोंक के बाण से मारकर गिरा देने के पश्चात् उनकी मूर्छा दूर करने के लिए वे कहते हैं—

"जौं मोरे मन बच अरु काया। प्रीति राम पद कमल अमाया॥
तौ कपि होउ बिगत श्रम सूला। जौं मो पर रघुपति अनुकूला॥
सुनत बचन उठि बैठ कपीसा। कहि जय जयति कोसलाधीसा॥"
"प्रीतें अवधि रहिहि जौ प्राना। अधम कवन जग मोहिं समाना॥"

१०—लक्ष्मण—इनके चरित चित्रण में कवि ने वीरता और राक्षसी भावों तथा भ्रातृ भक्ति आदि की व्यञ्जना की है। कवि ने इनके सम्बन्ध में कहा है—"रघुपति कीरति बिमल पताका। दण्ड समान भयउ जस जाका॥"

वीरता —"तोरौं छत्रक दण्ड जिमि तव प्रताप बल नाथ। —
जौं न करौं प्रभु पद सपथ, कर न धरौं धनुभाथ॥"
"आजु राम सेवक जस लेऊ। भरतहि समर सिखावन देऊ॥
राम निरादर कर फलु पाई। सोवहु समर सेज दोउ भाई॥
आइ बना भल सकल समाजू। प्रगट करउँ रिस पाछिल आजू॥
जिमि करि निकर दलइ मृगराजू। लेइ लपेटि लवा जिमि बाजू॥

तैसेहि भरतहिं सेन समेता । सानुज निदरि निपातउँ खेता ॥
जौं सहाय कर संकर आई । तौ मारउँ रन राम दोहाई ॥"
"धनुष चढ़ाइ कहा तब जारि करौं पुर छार ।"
"जो तेहि आजु बधे बिनु आवउँ । तौ रघुपति सेवक न कहावउँ ॥
जौं सत संकर करहिं सहाई । तदपि हतौं रघुबीर दोहाई ॥"
राजसी भाव—"पुनि कछु लखन कही कटु बानी ।
प्रभु बरजेउ बड़ अनुचित जानी ॥"
भ्रातृ प्रेम—"गुरु पितु मातु न जानउँ काहू ।
कहउँ सुभाव नाथ पतियाहू ॥"

११—हनुमान के चरित्र चित्रण में कवि ने स्वामिभक्ति और वीरता की व्यञ्जना की है ।

स्वामिभक्ति—"सुनु कपि तोहि समान उपकारी ।
नहिं कोउ सुर नर मुनि तनु धारी ॥"
"नाथ भगति अति सुखदायिनी । देहु कृपाकरि अनपायनी ॥"
वीरता—"सिंहनाद करि बारहिं बारा । लीलहि नाघउँ जलनिधि खारा ॥
सहित सहाय रावनहिं मारी । आनौं इहाँ त्रिकूट उपारी ॥
जामवन्त मैं पूँछउँ तोही । उचित सिखावन दीजे मोही ॥"
*   *   *
'रामचरन सरसिज उर राखी । चला प्रभंजन सुत बलाभखी ॥'
"कनक भूधराकार सरीरा । समर भयंकर अति बल बीरा ॥"

१२—रावण—के चरित्र-चित्रण में कवि ने दृढ़ता की भावना-प्रदर्शित की है :—

"निज भुजबल मैं बैरु बढ़ावा । देइहौं उतरु जो रिपु चढ़ि आवा ॥"

उपर्युक्त पात्रों के अतिरिक्त अन्य पात्र भी हैं जिनमें भी आदर्श की प्रतिष्ठा कवि ने की है । पात्रों के चरित्र-चित्रण में अनेक गुणों के साथ सामाजिक मर्यादा का भी ध्यान रखा गया है । ये आदर्श स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक ढङ्ग से रचना में अभिव्यञ्जित हुए हैं । अधिक न कह कर हम यहीं कह देना

पर्याप्त समझते हैं कि कला और उपदेश का इतना सुन्दर समन्वय और किसी की रचना में नहीं प्राप्त होता। गोस्वामीजी का इस अनुपम काव्य-शक्ति के कारण समाज के प्रत्येक स्तर के लोगों में और साहित्य में उनकी रचना का बहुत बड़ा सम्मान है।

रस—'मानस' में सभी रसों का उद्रेक बड़ी सफलता से हुआ है। गोस्वामीजी ने अपना इस रचना में रसों की व्यञ्जना स्वाभाविक ढङ्ग से कथा-प्रवाह के बीच की है। कुछ उदाहरण दे देना आवश्यक होगा।

१—शृङ्गार रस (संयोग) "प्रभुहि चितै पुनि चितै महि, राजत लोचन लोल।
खेलत मनसिज मीन जुग, जनु बिधुमंडल डोल॥"

(वियोग)—"राम वियोग कहा सुनु सीता। मो कह भए सकल विपरीता॥
'जे हित रहे करत तेइ पीरा। उरग स्वाँस सम त्रिविध समीरा॥"
'देखियत प्रगट गगन अंगारा। अवनि न आवत एकउ तारा॥
पावकमय ससि स्रवत न आगी। मानहु मोहि जानिहत भागी॥"

२—करुण रस—"सो तनु राखि करब मैं काहा।
जेहि न प्रेम पनु मोर निबाहा॥
हा रघुनन्दन प्रान पिरीते। तुम बिनु जियत बहुत दिन बीते॥"

३—वीर रस—"तोरौं छत्रक दण्ड जिमि तव प्रताप बल नाथ।
जौ न करौं प्रभु पद सपथ, कर न धरौं धनु भाथ॥"

४—हास्य रस—"करहिं कूट नारदहि सुनाई। नीक दीन्ह हरि सुन्दरताई॥
रीझिहिं राजकु वरि छवि देखी। इनहि बरिहि हरि जान बिसेखी॥
मुनिहि मोह मन हाथ पराए। हसहिं सम्भुगन अति सचुपाए॥"

५—रौद्र रस—"अतिरिस बोले बचन कठोरा।
कहु जड़ जनक धनुष कैइ तोरा॥
वेगि दिखाउ मूढ़ नत आजू। उलटौं महि जहँ लगि तव राजू॥"

६—भयानक रस—"मज्जहि भूत पिसाच बेताला।
प्रथम महा झोटिङ्ग कराला॥"

७—वीभत्स रस—"काक कंक लेइ भुजा उड़ाहीं।

एक ते छीनि एक लेइ खाहीं ।।"

८ अद्‌भुत रस—"देखरावा मातहि निज अद्‌भुत रूप अखण्ड ।
रोम रोम प्रति लागे, कोटि कोटि ब्रह्मण्ड ।।"

९ शान्त रस—"लसत मञ्जु मुनि मण्डली मध्य सीय रघुचन्दु ।
ज्ञान सभा जनु तनु धरे, भगति सच्चिदानन्दु ।। "

गोस्वामीजी ने सञ्चारीभावों की यथास्थान जो सृष्टि की है उसका भी विवरण इस स्थल पर थोड़ा दे देना प्रसङ्गानुकूल उपयुक्त होगा ।

ग्लानि—"एक बार भूपति मन माहीं । भइ गलानि मोरे सुत नाहीं ।।"

निर्वेद— "अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती । सब तजि भजन करौं दिनराती।।"

शङ्का— 'शिवहिं बिलोकि ससङ्केउ मारू । भएउ जथाथिति सब संसारू ।।"

श्रम—"थके नयन रघुपति छबि देखें । पलकन्हि हूँ परिहरी निमेषें ।।"

असूया— "तब सिय देखि भूप अभिलाषे । कूर कपूत मूढ़ मन माखे ।।"

मद —"सुनु तें प्रिया वृथा भय माना । जग जोधा को मोहि समाना । "

आलस्य — रघुबर जाय सयन तब कीन्हा ।।"

धृति—"धरि बड़ धीर राम उर आने । फिरी अपनपउ पितु बस जाने ।।"

विषाद—"सभय हृदय बिनवत जेहि तेही ।"

मति—"उपजा ज्ञान वचन तब बोला । नाथ कृपा मन भयउ अलोला ।।"

मोह—"लीन्ह जनक उर लाइ जानकी । मिटी महा मरजाद ज्ञान की ।।"

चिन्ता— "चितवत चकित चहू दिसि सीता ।
कहं गए नृप किसोर मन चिंता ।।"

स्वप्न—' दिन प्रति देखउँ रात कुसपने । कहउ न तोहि मोहबस अपने ।।"

स्मृति—"वर्षा गत निर्मल रितु आई । सुधि न तात सीता कै पाई ।।"

विबोध—"बिगत निसा रघुनायक जागे ।।"

अमर्ष—"जो राउर अनुसासन पाऊँ । कन्दुक इव ब्रह्माड उठाऊं ।।"

गर्व—"भुजबल भूमिभूप बीनु कीन्हे । बिपुल बार महिदेवन्ह दीन्हे ।।"

अवहित्थ—"तन सकोच मन परम उछाहू । गूढ़ प्रेमलखि परे न काहू ।।"

उत्सुकता—"वेगि चलिय प्रभु आनिय, भुजबल रिपुदल जीति ।।"

दीनता—"पाहिनाथ कहि पाहि गोसाईं । भूतल परेउ लकुट की नाईं ॥"
व्रीड़ा—"गुरुजन लाज समाज बड़ देखी सीय सकुचानि ।"
हर्ष—"जानि गौरि अनुकूल सियहिय हर्ष न जाइ कहि ॥"
मंजुल मंगल मूल बाम अंग फरकन लगे ॥"
उग्रता—"एक बार कालहु किन होई । सियहित समर जितब हम सोई ।"
व्याधि—"देखी व्याधि असाध नृप परयो धरनि धुनिमाथ ।
कहत परम आरत बचन राम राम रघुनाथ ॥"
निद्रा—"ते सियराम साथरी सोए । श्रमित बसन बिनु जाहिं न जोए ।"
मरण—"राम-राम कहि राम कहि राम राम कहि राम ।
तनु परिहरि रघुबर बिरह राउ गएउ सुरधाम ॥"
आवेग—"उठे राम सुनि प्रेम अधीरा । कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा ॥"
अपस्मार—"असकहि मुरछि परा महि राऊ ।"
त्रास—"भा निरास उपजी मन त्रासा । जथाचक्र भय रिषि दुरवासा ॥"
जड़ता—"मुनि मगमाँझ अचल होइ बैसा। पुलक सरीरपनस फल जैसा ॥"
उन्माद—"लछिमन समुझाए बहु भाँती। पूँछत चले लता तरु पाँती ॥"
वितर्क—"लंका निसिचर निकर निवासा । इहाँ कहाँ सज्जन कर बासा ॥"
चपलता—"प्रभुहिं चितै पुनि चितै महि, राजत लोचन लोल ।
खेलत मनसिज मीन जुग, जनु बिधु मंडल डोल ॥"

'मानस' मे राजनीति—इसके अन्तर्गत कवि ने राजनीति के आदर्शों की जो रूपरेखा दी है वह निम्न प्रकार है—

राजा ईश्वर का अंश है क्योंकि "ईस अंश भव परम कृपाला" अतः उसमे प्रजा-प्रेम, समदृष्टि, राज्यकार्यों के लिए प्रजा से परामर्श लेने की प्रवृत्ति, धार्मिकता और स्वदेश प्रेम अवश्य होना चाहिए । कुछ उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं—

१—प्रजा-प्रेम—"जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी ।
सो नृप अवसि नरक अधिकारी ॥"

२—समदृष्टि—"मुखिया मुख सों चाहिए खान पान को एक ।

पालें, पोषें सकल अंग तुलसी सहित विवेक ॥"

राज-कार्य म प्रजा का परामर्श –

"जो पाँचहि मत लागइ नीका । करहु हरषि हिय रामहि टीका ॥"

सत्यव्रत- 'नृपहि सत्यप्रिय नहि प्रिय पाना । करहु तात विनु वचन प्रमाना॥"

निर्भीकता और स्वावलम्बन--

"जौं रन हमहि पचारै कोइ । लरहिं सुखेन काल किन होई ॥"

"निसिचर हीन करौं महि भुज उठाइ पन कीन्ह !"

प्रजा समृद्धि का संकेत-

"विविध जन्तु सकुल महि भ्राजा । प्रजा बाढ़ि जिमि पाइ सुराजा ॥"

धार्मिकता--"अन्तहुँ उचित नृपहि बनवासू। बयविलोकि हियँ होइ हराखू॥"

"सन्त कहहि अस नीति दसानन । चौथेपन जाइहि नृपकानन ॥"

स्वदेश प्रेम-"जन्मभूमि ममपुरी सुहावनि । उत्तर दीसि वह सरजू पावनि ॥"

"जद्यपि सब बैकुण्ठ बखाना । बेद पुरान विदित जगु जाना ।

अवध पुरी सम प्रिय नहीं सोऊ । यह प्रसंग जानइ कोउ कोऊ ॥"

इसके अतिरिक्त तुलसीदासजी ने राज्य-सञ्चालन के लिए कुछ विशेष गुणों की ओर भी सङ्केत करते हैं--

"सामदाम अरुदण्ड विभेदा । नृप उर बसहि नाथ कह वेदा ॥"

"चोदह भुवन एक पति होई । भूत द्रोह तिष्ठे नहि सोई ॥"

'राज नीति बिनु धन बिनु धर्मा । हरिहि समरपे बिनु सत कर्मा ॥'

सङ्गते जती कुमन्त्रते राजा । मानते ज्ञान पानत लाजा ॥"

"नाथ बैर कीजे ताही सों । बुधिबल सकिय जीति जाही सों ॥"

'मानस' में सामाजिक दृष्टिकोण—

गोस्वामीजी ने समाज के व्यक्तिगत और सामूहिक दोनो पक्षों को अपनी अनुपम काव्य शक्ति के आधार पर उपदेश दिया है। दुर्वासनाओं और अनाचारों की तुलसीदास की रचना में प्रोत्साहन नहीं है। शृंगार रस ने वर्णन मे जहाँ कुछ न कुछ अश्लील भावों की व्यजना हो ही जाती है, वहाँ भी मर्यादा का रक्षण तुलसीदास ने किया है। शृंगार रस का पूर्ण वर्णन करने पर भी

अश्लीलता नहीं आने पायी है। यही कारण है कि हम बरबस कह बैठते हैं कि मर्यादा के सरंक्षण में तुलसीदास ने बड़े संयम और कुशलता से काम लिया है। 'मानस' में जिस राम-राज्य का सामाजिक चित्र खींचा गया है। उसमें मर्यादा का रूप खड़ा हो गया है।:—

"बयरु न कर काहू सन कोई। राम प्रताप विषमता खोई॥
बरनाश्रम निज निज धरम निरत वेद-पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहिं नहिं भय सोक न रोग॥
दैहिक दैविक भौतिक तापा। रामराज नहिं काहुहि व्यापा॥
सब नर करहि परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती॥"
"राम भगति रत सब नर नारी। सकल परम गति के अधिकारी॥"
"सब निर्दम्भ धर्मरत पुनी। नर अरु नारि चतुर सब गुनी॥
सब गुनज्ञ पंडित सब ग्यानी। सब कृतज्ञ नहिं कपट सयानी॥
सब उदार सब पर उपकारी। विप्र-चरन सेवक नर नारी॥
एक नारि व्रत रत सब भारी। ते मन बच क्रम पति हितकारी।"

तुलसीदास और नारी-भावना—

तुलसीदासजी ने 'मानस' में सामाजिक दृष्टिकोण से नारी के प्रति जो भाव प्रकट किया है, उसमें भी मर्यादा की रक्षा का आभास मिलता है। नारी के प्रति केवल उसी स्थान पर भर्त्सना मिलती है, जहाँ वह धर्म के विपरीत आचरण करता है। कहीं कहीं कुछ आलोचकोंने तुलसीदास की नारी विषयक भावना को 'नारी निन्दा' के अन्तर्गत माना है जैसे—"ढोल गँवार सूद्र पसु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी" और "नारि सुभाव सत्य कवि कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं।" किन्तु वस्तुस्थिति न समझने के कारण ही ऐसे आलोचक 'नारी निन्दा' की बातें करते हैं वास्तव में ये वाक्य स्वयं गोस्वामीजी के न होकर परिस्थिति विशेष में पड़े हुए व्यक्तियों के हैं। प्रथम उक्ति तो सागर अपनी क्षुद्रता व्यंजित करने के लिये प्रकट करता है और दूसरी में रावण अपनी महानता प्रकट कर रहा है।

तुलसीदास ने 'मानस' में समाज के आदर्श का विस्तृत विवेचन किया है,

धर्म के दृष्टिकोण से उन्होंने अपनी धार्मिक मर्यादा की स्थापना करते हुए तत्का लीन प्रचलित अनेक मतों और पंथों से बड़ी उदारता के साथ समझौता किया, यह उनकी बहुत बड़ी कुशलता थी। उनके समय में जनता विविध मतों में विभक्त हो चुकी थी, जिसमें शैव, शाक्त और पुष्टिमार्ग का वैष्णव से बड़ी प्रतिद्वन्द्विता थी। गोस्वामीजी ने इनमें विरोध करना अच्छा न समझा। उसे उदारतापूर्वक अपने ही आदर्श में मिला लिया। फलस्वरूप इन्हें सब की शक्ति प्राप्त हो गयी। जिनमें इनका पारस्परिक विरोध सर्वदा के लिये नष्ट हो गया। और मुस्लिम धर्म के मुकाबिले में इस संगठन से बड़ी शक्ति मिली। विभिन्न मतों में बंटी जनता राम भक्ति की ओर मुड़ी और राम-भक्ति के प्रचार के लिए पृष्ठभूमि बन गयी। शैव, शाक्त और पुष्टिमार्ग को जिस प्रकार गोस्वामीजी ने अपने आदर्श में सम्मिलित किया उसका उदाहरण दे देना उपयुक्त होगा।

शैवमत—भगवान् श्रीरामचन्द्रजी के ही मुँह से—

"करिहौं इहाँ संभु थापना। मोरे हृदय परम कल्पना॥"
"सिवद्रोही मम भगत कहावा। सो नर सपनेहुँ मोहिं न पावा॥"
"संकर विमुख भगति चह मोरी। सो नारकी मूढ़ मति थोरी॥"
"संकर प्रिय मम द्रोही, सिव द्रोही मम दास।
ते नर करहिं कलप भरि, घोर नरक महँ बास॥"
"औरउ एक गुपुत मत सबहिं कहौं कर जोरि।
संकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि॥"

शाक्तमत—वैदेही जानकी के मुँह से—

"नहिं तव आदि मध्य अवसाना। अमित प्रभाउ बेद नहिं जाना॥
भय-भव विभव पराभव कारनि। विश्व बिमोहनि स्ववस विहारनि॥"

पुष्टिमार्गी मत—

"अब करि कृपा देहु बर एहू। निजपद सरसिज सहज सनेहू॥"
"सोइ जानइ जेहि देउ जनाई। जानत तुम्हहिं तुम्हहिं होइ जाई॥
तुम्हरिहिं कृपा तुम्हहिं रघुनन्दन। जानहिं भगत भगत उर चन्दन॥"
"राम भगति मनिउर बस जाके। दुख लवलेस न सपनेहुँ ताके॥"

'चतुर सिरोमनि तेइ जग माहीं। जे मनि लागि सुजतन कराहीं॥
सो मनि जदपि प्रगट जग अहई। राम कृपा बिनु नहि कोउ लहई।'

इस प्रकार भगवान श्रीराम के व्यक्तित्व में शैव, शाक्त और पुष्टिमार्ग के आदर्शों की समाप्ति कर तुलसीदास ने वैष्णवधर्म को पुष्ट कर दिया है। तुलसीदास स्मार्त वैष्णव थे जिनके सामने ज्ञान का उतना महत्व नहीं था, जितना भक्ति का। ज्ञान की अपेक्षा गोस्वामीजी ने भक्ति को विशेष महत्व तो दिया किन्तु ज्ञान और भक्ति में कोई विशेष अन्तर नहीं माना है :—

"ग्यानहि भगतिहि नहि कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा॥'

यदि कुछ अन्तर है भी तो—

'ज्ञान बिराग जोग बिज्ञाना। ए सब पुरुष सुनहु हरिजाना॥
पुरुष प्रताप प्रबल सब भाँती। अबला अबल सहज जड़ जाती॥
पुरुष त्याग सक नारिहि जो बिरक्त मति धीर।
न तु कामी बिषया बस बिमुख जो पद रघुबीर॥"

"मोह न नारि नारि के रूपा। पन्नगारि यह रीति अनूपा॥
माया भगति सुनहु तुम दोऊ। नारि बर्ग जानइ सब कोऊ॥
पुनि रघुबीरहि भगति पियारी। माया खलु नर्तकी बिचारी॥
भगतिहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया॥"

इसलिये भक्ति पर माया का कोई प्रभाव नहीं हो सकता। ज्ञान की साधना बड़ी कठिन होती है। जो इस कठिन साधना में सफल होते हैं, वे मुक्ति पा जाते हैं किन्तु सभी उसे प्राप्त नहीं कर सकते, क्योंकि यह साधना बड़ी कष्ट-साध्य है—

"ज्ञान क पथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहि बारा॥"

इस प्रकार गोस्वामीजी ने भक्ति और ज्ञान का विरोध दूर कर धार्मिक प्रवृत्तियों में एकता की स्थापना कर दी। ज्ञान मान्य तो है, किन्तु भक्ति की उपेक्षा करके नहीं, इसी प्रकार भक्ति का विरोध भी ज्ञान से नहीं। इनका संकेत अरण्यकाण्ड में इस प्रकार है :—

"सुनु मुनि तोहि कहौं सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥

करौं सदा तिन्हकै रखवारी। जिमि बालिक राखइ महतारी॥
गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई। तहँ राखइ जननी अरगाई॥
प्रौढ़ भए तेहि सुत पर माता। प्रीति करै नहि पाछिल बाता॥
मोरे प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी। बालक सुत सम दास अमानी॥
जनहि मोर बल निज बल ताही। दुहु कहँ काम क्रोध रिपु आही॥
यह बिचारि पंडित मोहि भजहीं। पाएहु ज्ञान भगति नहि तजहीं॥"

अर्थात् ज्ञान प्राप्त होने पर भी भक्ति की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए, क्योंकि भगवान् श्रीरामचन्द्रजी ने स्वयं इसका निर्देश किया है—

"धर्मतें बिरति जोग तें ज्ञाना। ज्ञान मोच्छप्रद बेद बखाना॥
जातें बेगि द्रवौं मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई॥
सो सुतन्त्र अवलम्ब न आना। तेहि आधीन ज्ञान बिज्ञाना॥
भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलै जो सन्त होहिं अनुकूला॥"

अर्थात् ज्ञान-विज्ञान भी भक्ति के अन्तर्गत हैं। क्योंकि भक्ति में ही ज्ञान की सृष्टि होती है तथा ज्ञान प्राप्त होने पर भक्ति की स्थिति रहती है। इसे और भी स्पष्ट कर दिया गया है :—

"प्रथमहि बिप्र चरन अति प्रीती। निज निज कर्म निरत श्रुति रीती॥
यहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा॥
स्रवनादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं। मम लीला रति अति मन माहीं॥
सन्त चरन पंकज अति प्रेमा। मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा॥
गुरु पितु मातु बन्धु पतिदेवा। सब मोहि कहँ जानै दृढ़ सेवा॥
मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥
काम आदि मद दम्भ न जाके। तात निरन्तर बस मैं ताके॥
　　　　बचन करम मन मोरि गति भजन करहिं निःकाम॥
　　　　तिन्हके हृदय कमल महुँ करौं सदा बिश्राम॥"

तुलसीदासजी ने यह भी व्यंजित कर दिया है कि भक्ति की सर्वोच्च साधना ही उनके धर्म की मर्यादा है। इन्होंने अपने धर्म की जो रूपरेखा निश्चित की थी, वह अत्यन्त सरल साधनों के द्वारा ही निर्मित थी, जिसमें कि दोष आ जाने

का भय था। अतः कबीर पंथियों की भाँति उनकी भक्ति के अन्दर बाह्याडम्बर और छल कपट न आ जाय इस दोष से बचाये रखने के लिए ही उन्होंने सन्तों के लक्षण भी बता दिए—

'सुनु मुनि सन्तन के गुन कहऊँ। जिन्ह तें मैं उन्हके बस रहऊँ॥
षट विकार जित अनघ अकामा। अचल अकिंचन सुचि सुखधामा॥
अमित बोध अनीह मित भोगी। सत्य सार कवि कोविद जोगी॥
सावधान मानद मदहीना। धीर धर्म गति परम प्रवीना॥
गुनागार संसार दुख, रहित विगत सन्देह।
तजि मम चरन सरोज प्रिय जिन्ह कहँ देह न गेह॥
निजगुन स्रवन सुनत सकुचाहीं। परगुन सुनत अधिक हरषाहीं॥
सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती। सरल सुभाउ सबहि सन प्रीती॥
जप तप व्रत दम संजम नेमा। गुरु गोविन्द विप्र पद प्रेमा॥
श्रद्धा छमा मयत्री दाया। मुदिता मम पद प्रीति अमाया॥
विरति विवेक विनय विज्ञाना। बोध जथारथ वेद पुराना॥
दंभ मान मद करहिं न काऊ। भूलि न देहिं कुमारग पाऊ॥
गावहिं सुनहिं सदा मम लीला। हेतु रहित परहित रत सीला॥'

इसके अतिरिक्त पाप और धर्म की पहचान के लिए तुलसीदासजी ने निम्न प्रकार से व्याख्या कर दी है—

'नहिं असत्य सम पातक पुंजा। गिरि सम होहिं कि कोटिक गुंजा॥
'सत्य मूल सब सुकृत सुहाए। वेद पुरान विदित मनु गाए॥
'धर्म की दया सरिस हरिजाना। अघ कि पिसुनता सम किछु आना॥
'परहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥
'परम धर्म श्रुति विदित अहिंसा। पर निन्दा सम अघ न गिरीसा॥'

घ) भाषा और उस पर अधिकार—तुलसीदास के पहले अवधी भाषा में रचना हो चुकी थी, (क्योंकि जायसी आदि सूफी कवियों ने प्रेम गाथाओं की रचना इसी भाषा में किया था) किन्तु उसमें साहित्यिक परिष्कार नहीं हो पाया था, किन्तु 'मानस' में उसका प्रयोग कर गोस्वामीजी ने उसका परिष्कार कर

दिया। दूसरी भाषा ('ब्रजभाषा') भी काव्य के लिए उस समय प्रचलित थी। इसमें भी तुलसीदास ने अवधी के समान साधिकार रचना की। अपनी रचना के भीतर जिन और भाषाओं का प्रयोग गोस्वामीजी ने किया है उनका विवेचन स्थानाभाव से हम नहीं कर पा रहे हैं; किन्तु इतना तो कह देना आवश्यक है कि उन्होंने अपनी रचनाओं में अवधी, ब्रज, भोजपुरी, बुन्देलखण्डी, मुगल कालीन अरबी फारसी, सस्कृत आदि का स्थान-स्थान पर सफल प्रयोग किया है।

रचना शैली—भाषा पद्य के स्वरूप में तुलसीदास के समय पाँच शैलियाँ प्रचलित थीं १—वीरगाथा काल की छप्पय पद्धति, २—विद्यापति और सूरदास की गीत-पद्धति, ३—गग आदि की कवित्त सवैया पद्धति, ४—कबीरदास की नीति-सम्बन्धी बानी की दोहा पद्धति, जो अपभ्रंश-काल से ही चली आ रही थी और ५ ईश्वरदास की दोहे चौपाईवाली प्रबन्ध-पद्धति। तुलसीदास के पूर्व (जो चारण-काल के वीर-गाथात्मक ग्रन्थ और प्रेम-काव्य एव सन्त काव्य के ग्रन्थ थे, वे मुसलमानी प्रभाव से प्रभावित ग्रन्थ थे) चारणकाल में काव्य की भाषा स्थिर नहीं हो पायी थी अतः उसमें साहित्यिक सौन्दर्य का अभाव था; इसके अतिरिक्त प्रेम काव्य की दोहे चौपाई की प्रबन्धात्मक रचना में शैली का सौन्दर्य अवश्य था, किन्तु भावों की न्यूनता तो थी ही। इसी प्रकार सन्त-साहित्य में भी एकमात्र एकेश्वरवाद और गुरु की वन्दना मात्र ही प्रमुख होकर सामने आई थी, जिसमें धर्म प्रचार की भावना प्रबल थी और साहित्य निर्माण की भावना नहीं के बराबर थी। इसके अतिरिक्त कृष्ण-काव्य के आदर्शों का *निर्माण हो रहा था। उसमें अभी प्रौढ़ता नहीं आ पाई थी।* उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट है कि गोस्वामीजी के समय में साहित्य में उत्कृष्टता न आ पायी थी। उसे उत्कृष्ट बनाने का कार्य तो इन्हीं महाकवि के द्वारा हुआ। आचार्य शुक्लजी के शब्दों में—"तुलसीदासजी के रचना विधान की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल से सबके सौन्दर्य की पराकाष्ठा अपनी दिव्य वाणी में दिखाकर साहित्य में प्रथम पद के अधिकारी हुए। हिन्दी कविता के प्रेमी मात्र जानते हैं कि उनका ब्रज और अवधी दोनों भाषाओं पर समान अधिकार था। ब्रज

भाषा का जो माधुर्य हम सूरसागर में पाते हैं, वही माधुर्य और भी संस्कृतरूप में हम गीतावली और कृष्णगीतावली में पाते हैं। ठेठ अवधी की जो मिठास हमें जायसी के पद्मावत में मिलती है, वही जानकी-मंगल, पार्वती मंगल, बरवारामायण और रामलला-नहछू में हम पाते हैं। यह सूचित करने की आवश्यकता नहीं कि न तो सूर का अवधी पर अधिकार था और न जायसी का ब्रज भाषा पर।"*

अलंकार योजना--गोस्वामीजी का भाव-विश्लेषण इतना अधिक मनोवैज्ञानिक है कि उसकी भाव-मीनता अथवा सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिये अलंकारों को हठपूर्वक लाने की आवश्यकता नहीं रह जाती। आचार्य शुक्लजी का भी कथन है कि—"उनकी साहित्य-मर्मज्ञता, भावुकता और गम्भीरता के सम्बन्ध में इतना जान लेना और भी आवश्यक है कि उन्होंने रचना नैपुण्य का भद्दा प्रदर्शन नहीं किया है और न शब्द आदि के खेलवाड़ों में वे फँसे हैं। अलंकारों की योजना उन्होंने ऐसे ढंग से की है कि वे सर्वत्र भावों या तथ्यों की व्यंजना को प्रस्फुटित करते हुये पाए जाते हैं, अपनी अलग चमक-दमक दिखाते हुए नहीं। ·······गोस्वामीजी की वाक्य रचना अत्यन्त प्रौढ़ और सुव्यवस्थित है; एक भी शब्द फालतू नहीं।······हम निस्संकोच कह सकते हैं कि यह एक कवि ही हिन्दी को एक प्रौढ़ साहित्यिक भाषा सिद्ध करने के लिए काफी हैं।"ꕥ

गोस्वामीजी का भाव-प्रकाशन ही ऐसा है कि उसमें अलंकार अपने आप स्वभावतः आ जाते हैं। यही कारण है कि इनकी रचना में बड़ी ही सरलता से सभी अलंकार आ गये हैं।

* 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' आचार्य शुक्ल प्रणीत। पृष्ठ १३४ परिवर्द्धित संस्करण।

ꕥ वही पृष्ठ १४५–१४६।

(ड) विशेषता और साहित्य में स्थान—तुलसीदासजी की इस रचना में रचना चातुर्य, प्रबन्ध-पटुता, सुहृदयता आदि सभी गुणों का यथा स्थान समाहार मिलता है। जहाँ तक प्रबन्ध-काव्य के भीतर कथावस्तु

व्यापार-वर्णन, भावव्यंजना तथा सम्वाद आदि अवयवों का प्रश्न है, उसका भली भाँति निर्वाह किया गया है। रचना के अन्दर आई हुई कथा पर कोई आघात नहीं होने पाता, अर्थात् पात्रों के सम्वाद, प्रेम, शोक इत्यादि की व्यंजना उपयुक्त ढंग से हुई है। प्रधान इतिवृत्त की शृंखला नहीं टूटने पाई है। अन्तर्कथाएँ जो प्रसंगानुसार आई भी हैं, वे प्रधान कथा को पुष्ट करने के लिए ही आई हैं। कवि ने कुछ घटनाओं का विस्तृत वर्णन भी किया है, किंतु वे घटनाएँ मानव के हृदय को स्पंदित करनेवाली हैं। अतः उनके विस्तार से दोष नहीं आने पाया है जनकजी की फुलवारी में राम-सीता का परस्पर दर्शन, राम लक्ष्मण और सीता का वन-गमन, दशरथमरण, भरतजी की आत्मग्लानि, वन मार्ग में ग्रामवासियों की सहानुभूति, युद्ध, लक्ष्मण-शक्ति आदि प्रसंग ऐसे ही हैं। इसके अतिरिक्त मनुष्य के हृदय की सूक्ष्म से सूक्ष्म प्रवृत्तियों का पूर्ण विश्लेषण हमें तुलसीदास की रचना में प्रसंगानुकूल भाषा के प्रयोग में मिलता है। जैसे घरेलू प्रसंग में, जहाँ कैकेयी और मंथरा का संवाद है, स्त्रियों में विशेष प्रचलित प्रयोगों का व्यवहार हुआ है। मानव-भावनाओं के अतिरिक्त अन्य भावों के प्रकाशन में भी तुलसीदास ने अपना रचना कौशल दिखाया है। कुछ अवतरण इस प्रकार हैं :—

१—"दलकि उठेउ सुनि हृदय कठोरू। जनु छुइ गयउ पाक बर तोरू ॥"
२—"हमहिं देखि मृग निकर पराहीं। मृगीं कहहिं तुम्ह कहँ भय नाहीं॥
तुम्ह आनन्द करहु मृग जाए। कंचन मृग खोजन ए आए॥"
३—"गरजहिं गज घंटा धुनि घोरा। रथ रव हिंस बाजि चहु ओरा॥"
४—"राम चरन सरसिज उर राखी। चला प्रभंजन सुत बलभाखी॥"

उपर्युक्त उदाहरण में "दलकि उठेउ" में पके बरतोड़ फोड़े के छूने की क्रिया की, शब्दों का ध्वनि से ही कितने ढंग से व्यंजना हुई है! दूसरे में मृगी मृग से जो कहती है उसका भाव है कि—कंचन मृग के मारने की उमंग में ही भगवान् रामचन्द्रजी ने जानकी को खो दिया था। उसकी याद कर राम के हृदय के क्षोभ की व्यंजना कितनी मार्मिक है! तीसरे में भी शब्दों की ध्वनियों से ही भावों का प्रकाशन देखिए—"गज गरजहिं", "घण्टा धुनि घोरा",

"रथ रव", हिंस बाजि" अर्थात् गज के लिए गरजना, घण्टा के लिए धुनि घोरा, रथ के लिए रव और बाजि के लिए हिंस शब्दों का प्रयोग कितना सुन्दर हुआ है। भावों के यथातथ्य निरूपण करने का सफल प्रयास है। चौथे में 'प्रभजन-सुत' से हनुमानजी की तीव्रगामिता का भाव है। अर्थात् जब हनुमानजी श्रीरामचन्द्रजी के चरण-कमलों को हृदय में रख अपना बल बखान कर (अर्थात् मैं अभी लिए आता हूँ, ऐसा कह कर) चले, तब उन्हें पवनपुत्र न कहकर उसके पर्यायवाची 'प्रभजनसुत' शब्द का जिसमें आँधी की तीव्रगति की भावना निहित है, प्रयोग है।

इसी प्रकार 'कंकन किंकिन नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन राम हृदय गुनि' शब्दों के प्रयोग में ही ऐसी विशेषता है कि आभूषणों की ध्वनियों की व्यंजना स्वतः हो जाती है। 'मानस' में ऐसे कितने ही प्रयोग हैं, जिन्हें स्थान स्थान पर देखा जा सकता है।

अतः कहने में कुछ भी सन्देह नहीं है कि "रामचरित-मानस" हिन्दी-साहित्य का सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ है और उसका रचयिता हिन्दी साहित्य का सर्वोत्कृष्ट कवि है।

२—कृष्ण-भक्ति शाखा या कृष्ण-काव्य

(क) मूलस्रोत; काल और परिस्थिति का प्रभाव—(कृष्ण-भक्ति का परम्परा)—यद्यपि हिन्दू जनता में अवतारों की भावना अत्यन्त प्राचीन काल (अनादिकाल) से चली आ रही है; किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से कृष्ण चरित का प्रथम वर्णन करनेवाला ग्रन्थ महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यास प्रणीत 'महाभारत' ही है। आगे चलकर कृष्ण भक्ति व्यापकरूप से बहुत अधिक बढ़ी और उसका प्रभाव बौद्धकाल के बाद तक रहा और है। प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अमर कोष' के प्रणेता अमरसिंह ने (जिन्हें महाराज विक्रम की सभा का अन्यतम १

कहा जाता है और जिनका समय दो हजार वर्ष पूर्व निश्चित होता है) धार्मिक दृष्टि से बौद्ध होते हुए भी 'अमरकोष' में ब्रह्मा, विष्णु और महेश का वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण का भी वर्णन किया है—'विष्णुर्नारायण कृष्ण' से प्रारम्भ करके इन्होंने उपेन्द्र (इन्द्र के छोटे भाई), कैटभजित् (मधु कैटभ के मारने वाले), श्रीपति, स्वयम्भू, यज्ञपुरुष विश्वरूप, जलशायी के साथ साथ दामोदर, माधव, देवकीनन्दन और वसुदेव का पुत्र भी कहा है।

'सर भंडारकर वासुदेव और कृष्ण में अन्तर मानते हैं, उनका विचार है कि 'सात्वत' एक क्षत्रियवंश का नाम था, जिसे 'वृष्णि' भी कहते थे। वासुदेव इसी 'सात्वत' वंश के एक महापुरुष थे, और उनका समय ईसा से ४०० वर्ष पूर्व है। उन्होंने ईश्वर के एकान्त भाव का प्रचार किया था। उनकी मृत्यु के बाद उसी वंश के लोगों ने वासुदेव ही को साकार रूप में ब्रह्म मान लिया है। 'भगवद्गीता' इसी कुल का ग्रन्थ है।

'इसी प्रकार वासुदेव का प्रथम रूप नारायण था, बाद में विष्णु और अन्त में गोपालकृष्ण।

'कृष्ण एक वैदिक ऋषि का नाम था, जिसने 'ऋग्वेद' के अष्टम मंडल की रचना की थी, वह उसमें अपना नाम कृष्ण लिखता है। 'अनुक्रमणी' का लेखक उसे आंगिरस नाम देता है। इसके बाद 'छांदोग्य उपनिषद्' में कृष्ण देवकी के पुत्र के रूप में उपस्थित किए जाते हैं। वे घोर आंगिरस के शिष्य हैं। आंगिरस ने उन्हें शिक्षा भी दी है —

"तद्धैतत् घोर आंगिरसः कृष्णाय देवकी पुत्रायोक्त्वा उवाचापिपास एव स बभूव, सोऽन्तवेलायामेतत्त्रयं प्रति पद्येत अक्षितमस्य च्युतमसि प्राणसंशितमसीति।'—(छांदोग्य उपनिषद्, प्रकरण ३, खण्ड १७)

"अर्थात् देवकी पुत्र श्रीकृष्ण के लिए आंगिरस घोर ऋषि ने शिक्षा दी कि जब मनुष्य का अन्तिम समय आवे, तो उसे इन तीन वाक्यों का उच्चारण करना चाहिए —

१—तू अक्षितमसि—तू अनश्वर है २—तू अच्युतमसि—तू एक रूप है, ३—तू प्राणसंशितमसि —तू प्राणियों का जीवनदाता है।

"यदि कृष्ण भी आंगिरस थे, तो 'ऋग्वेद' के समय से 'छांदोग्य उपनिषद्' के समय तक उनके सम्बन्ध में जनश्रुति चली आती होगी। इसी जनश्रुति के आधार पर कृष्ण का साम्य वासुदेव से हुआ होगा। तब वासुदेव देवत्व के पद पर अधिष्ठित हुए होंगे। कृष्ण और वासुदेव के एकत्व का एक कारण और है। 'पाणिनि' की गाथा के भाष्यकार का मत है कि कृष्ण एक गोत्र-नाम है और यह क्षत्रियों द्वारा भी उस समय में धारण किया जा सकता था। इस गोत्र का पूर्ण रूप है कार्ष्णायन। वासुदेव उसी कार्ष्णायन गोत्र के थे, अतः उनका नाम कृष्ण हो गया। इस प्रकार कृष्ण ऋषि का समस्त वेद ज्ञान और देवकी का पुत्र गौरव वासुदेव के साथ सम्बद्ध हो गया, क्योंकि वे अब कृष्ण के नाम से प्रसिद्ध हो गए।" [५]

किन्तु 'महाभारत' और 'भागवत' [६] में महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यास ने भगवान श्रीकृष्ण का जो परिचय अपनी रचना में दिया है, वह इस प्रकार है —

> "कृष्ण एव हि भूतानामुत्पत्तिरपि चाव्ययः।
> कृष्णस्य हि कृते विश्वमिदं भूतं चराचरम्॥१६॥
> एष प्रकृतिरव्यक्ता कर्ता चैव सनातनः।
> परश्च सर्वभूतेभ्यस्तस्मात् पूज्यतमोऽच्युतः॥२३॥
> बुद्धिर्मनो महद्वायुस्तेजोऽम्भः खं मही च या।
> चतुर्विधं च यद् भूतं सर्वं कृष्णे प्रतिष्ठितम्॥"२४॥
> —(महाभारत- सभापर्व, अध्याय ३८, श्लोक १६,२३,२४)

तथा आगे —"एतत्परमकं ब्रह्म एतत्परमकं यशः।

---

[५] देखिए 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' —पृ० ८६२-८६३— परिवर्द्धित संस्करण तीसरी बार १९५४—डा० श्रीरामकुमार वर्मा एम० ए० पी० एच० डी०। [६] राम-काव्य के अन्तर्गत महाभारत और भागवत महापुराण की प्राचीनता और प्रामाणिकता के सम्बन्ध में विचार किया जा चुका है अतः उसका इस स्थल पर पुनः उल्लेख नहीं किया जा रहा है।

एतदक्षरमव्यक्तं एतत् वै शाश्वतं महः ॥"

--(महाभारत, सभापर्व, अध्याय ६६, श्लोक ६)

इसी प्रकार राजा परीक्षित के पूछने पर :--

"कथितो वंश विस्तारो भवता सोमसूर्ययोः ।
राज्ञां चोभयवंश्यानां चरितं परमाद्भुतम् ॥१॥
यदोश्च धर्मशीलस्य नितरां मुनिसत्तम ।
तत्रांशेनावतीर्णस्य विष्णोर्वीर्याणि शंस नः ॥२॥
अवतीर्य यदोर्वंशे भगवान् भूतभावनः ।
कृतवान् यानि विश्वात्मा तानि नो वद विस्तरात् ॥३॥
निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद् भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात् ।
क उत्तमश्लोकगुणानुवादात् पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात् ॥४॥
पितामहा मे समरेऽमरञ्जयैर्देवव्रताद्यातिरथैस्तिमिङ्गिलैः ।
दुरत्ययं कौरवसैन्यसागरं कृत्वातरन् वत्सपदं स्म यत्प्लवाः ॥५॥
द्रौण्यस्त्रविप्लुष्टमिदं मदङ्गं सन्तानबीजं कुरुपाण्डवानाम् ।
जुगोप कुक्षिं गत आत्तचक्रो मातुश्च मे यः शरणं गतायाः ॥६॥
वीर्याणि तस्याखिलदेहभाजामन्तर्बहिः पूरुषकालरूपैः ।
प्रयच्छतो मृत्युमुतामृतं च मायामनुष्यस्य वदस्व विद्वन् ॥ ७ ॥
रोहिण्यास्तनयः प्रोक्तो रामः सङ्कर्षणस्त्वया ।
देवक्या गर्भ सम्बन्धः कुतो देहान्तरं विना ॥ ८ ॥
कस्मान्मुकुन्दो भगवान् पितुर्गेहाद् व्रजं गतः ।
क्व वासं ज्ञातिभिः सार्धं कृतवान् सात्वताम्पतिः ॥ ९ ॥"

--("श्रीमद्भागवत" दशम स्कन्ध, प्रथम अध्याय श्लोक १ से ९ तक)

अर्थात्-"भगवन् ! आपने चन्द्र और सूर्यवंश के विस्तार एवं दोनों वंशों के राजाओं का अत्यन्त अद्भुत चरित्र वर्णित किया । भगवान् के परम प्रेमी मुनिवर ! आपने स्वभाव से धर्म-प्रेमी यदुवंश का भी विशद वर्णन किया । अब कृपा करके उसी वंश में अपने अंश श्रीबलरामजी के साथ अवतीर्ण हुए भगवान् श्रीकृष्ण के परम पवित्र चरित्र भी हमें सुनाइये । भगवान् श्रीकृष्ण

समस्त प्राणियों के जीवनदाता एवं सर्वात्मा हैं। उन्होंने यदुवंश में अवतार लेकर जो जो लीलाएँ कीं, उनका विस्तार से हम लोगों को श्रवण कराइए। भगवान् श्रीकृष्ण के गुण और उनकी लीलाएँ इतनी मधुर और स्वभाव से ही इतनी सुन्दर हैं कि जिन मुक्त महापुरुषों के हृदय में किसी भी प्रकार की लालसा तृष्णा नहीं है, वे भी उनकी ओर आकर्षित होकर नित्य निरन्तर उनका गायन किया करते हैं। जो लोग इस भव रोग से छुटकारा पाना चाहते हैं, उनके लिए तो वे लीलाएँ औषध रूप ही हैं, जन्म-मृत्यु के चक्कर से छुड़ा देनेवाली हैं। यहाँ तक कि जो विषय प्रेमी हैं उनके मन और कान भी उनमें रम जाते हैं। उन्हें भी उनमें बड़ा रस, बड़ा सुख, मिलता है। ऐसी स्थिति में पशुघाती अथवा आत्मघाती के अतिरिक्त ऐसा कोई और जीव नहीं हो सकता, जो मुक्त मुमुक्षु और विषयी सभी को सुख देनेवाली भगवान् की लीलाओं में रुचि न करे। इसके अतिरिक्त मेरे कुल में तो श्रीकृष्ण का बड़ा घनिष्ट सम्बंध है। जब कुरुक्षेत्र में महाभारत-युद्ध हो रहा था और देवताओं को भी जीत लेनेवाले पितामह भीष्म आदि अतिरथियों से दादा पाडवों का युद्ध हो रहा था, उस समय कौरवों की सेना उनके लिए अपार समुद्र के समान थी – जिसमें भीष्म आदि वीर बड़े बड़े मच्छों को भी निगल जानेवाले तिमिङ्गिल मच्छों की भाँति भय उत्पन्न कर रहे थे। किन्तु मेरे पितामह भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों की नौका का आश्रय लेकर उस समुद्र को अनायास ही पार कर गये –ठीक वैसे ही जैसे कोई मार्ग में चलता हुआ स्वभाव से ही बछड़े के खुर का गड्ढा पार कर जाय। हे महाराज! दादाओं की बात जाने दें, मेरा यह शरीर–जो आपके सामने है एवं जो कौरव और पाडव दोनों ही वंशों का एक मात्र सहारा था–अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र से जल चुका था। उस समय मेरी माता जब भगवान् की शरण में गयी, तब उन्होंने हाथ में चक्र लेकर मेरी माता के गर्भ में प्रवेश किया और मेरी रक्षा की। केवल मेरी ही बात नहीं, वे समस्त शरीरधारियों के भीतर आत्मारूप से रहकर अमृतत्व का दानकर रहे हैं और बाहर कालरूप से रहकर मृत्यु का। मनुष्य के रूप में प्रतीत होना, यह तो उनकी एक लीला है। आप उन्हीं की ऐश्वर्य और माधुर्य

से परिपूर्ण लीलाओं का वर्णन कीजिये। वे मेरे कुलदेवता हैं, जीवनदाता हैं और समस्त प्राणियों के आत्मा हैं। भगवन्! आपने अभी बताया था कि बलरामजी रोहिणी के पुत्र थे। इसके बाद देवकी के पुत्रों में भी उनकी गणना की। दूसरा शरीर धारण किये बिना दो माताओं का पुत्र होना कैसे सम्भव है? असुरों को मुक्ति देनेवाले और भक्तों को प्रेम वितरण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण अपने वात्सल्य-स्नेह से भरे हुये पिता का घर छोड़कर व्रज में क्यों चले गये? प्रभु ने नन्द आदि गोपों के साथ कहाँ कहाँ निवास किया।"

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भगवान् श्रीकृष्ण महर्षि व्यास के समय से ही पूर्णब्रह्म मान लिये गये थे। भगवान् श्रीकृष्ण (विष्णु) अवतार के रूप में, हरिवंशपुराण, वायुपुराण, वाराहपुराण अग्निपुराण, और नृसिंह पुराण आदि में भी वर्णित हैं। इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति अत्यन्त प्राचीनकाल से चली आ रही है।

(ख) मत-सिद्धान्त और दार्शनिक पृष्ठ-भूमि—परम्परा से आती हुई जो कृष्णभक्ति, विक्रम की पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में वैष्णव धर्म के आंदोलन के अंतर्गत पायी जाती है, उसके प्रवर्तकों में से आचार्य वल्लभ प्रमुख थे। इनका जन्म सम्वत् १५३५ वैसाख कृष्ण ११ को माना जाता है और मृत्यु सम्वत् १५८७ आषाढ़ शुक्ल ३ को मानी जाता है। ये वेद शास्त्र के बड़े ही प्रकाण्ड पण्डित थे।

भारत में आचार्य रामानुज से लेकर वल्लभाचार्य तक जितने भी उच्चकोटि के भक्त, दार्शनिक या आचार्य हुये, उन सबों का उद्देश्य स्वामी शंकराचार्य के मायावाद और विवर्त्तवाद से, जिसके अनुसार भक्ति अविद्या या भ्रांति ही ठहरती थी,* पीछा छुड़ाना था। शंकर ने केवल निरुपाधि निर्गुणब्रह्म की ही पारमार्थिक सत्ता स्वीकार की थी। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने जगत् के मिथ्यात्व का खण्डन करके उपासना की प्रतिष्ठा की। समग्र सृष्टि को उन्होंने

* देखिये आचार्य शुक्ल प्रणीत 'हि० सा० का इतिहास' परिवर्द्धित सम्करण पृष्ठ १५५।

लीला के लिये ब्रह्म की आत्मकृति कहा। भगवान् श्रीकृष्ण ही ब्रह्म हैं। वे निर्गुण, निर्विशेष, कर्त्ता, भोक्ता, निर्विकार, गुणरहित, समस्त धर्मों के आश्रय, संसार के धर्मों से रहित एवं जगत् के उपादान हैं। जगत् सत्य है। वह कार्य है। ब्रह्म से अभिन्न उसकी परिणति है, क्योंकि ब्रह्म अविकृत परिणामी है। जगत् में आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है। जीव शुद्ध तथा अणुरूप है। जीव के लिये ब्रह्म से प्रीति करना ही श्रेष्ठ-मार्ग है। ब्रह्म पूर्ण सत् चित् आनन्दस्वरूप है। जीव को अपने पूर्ण आनन्दस्वरूप की प्राप्ति ईश्वर के अनुग्रह पर निर्भर है। अतः उसी अनुग्रह को पुष्ट करना भक्ति की साधना का लक्ष्य है। इसीलिये आचार्य वल्लभ ने पुष्टिमार्ग का प्रवर्त्तन किया, क्योंकि बिना ईश्वर के अनुग्रह के मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता।—'मोक्षश्च विष्णु प्रसादमन्तरेण न लभ्यते।' श्रद्धा मिश्रित प्रेम को भक्ति कहते हैं। वल्लभ सम्प्रदाय में कृष्ण के लीलामय स्वरूप की उपासना के कारण प्रेम की प्रधानता है। प्रेम में अनुरंजन का प्राधान्य रहता है। प्रेममूला-भक्ति के तीन प्रधान तत्त्व माने जाते हैं। ममता, स्वच्छन्दता तथा प्रेमान्तिकता। प्रेम-साधना में आचार्य वल्लभ ने वेदमर्यादा और लोक-मर्यादा दोनों का त्याग विधेय ठहराया। इस प्रेम लक्षणाभक्ति का मानव हृदय में तभी स्फुरण होता है, जब उस पर भगवान् का अनुग्रह होता है, जिसे पुष्टि कहा जाता है। वल्लभाचार्य के सम्प्रदाय का नाम यही कारण है कि 'पुष्टि-मार्ग' पड़ा। इस पुष्टि के आचार्य ने चार भाग किये:—

(१) प्रवाह-पुष्टि—संसार में रहते हुये भी श्रीकृष्ण की भक्ति प्रवाह रूप से हृदय में होती रहे। इसी से इसे 'प्रवाह-पुष्टि' कहा जाता है।

(२) मर्यादा-पुष्टि—संसार के सुखों को त्यागकर श्रीकृष्ण का गुणगान करता रहे। इस प्रकार मर्यादापूर्ण भक्ति के विकास को 'मर्यादा-पुष्टि' कहते हैं।

३—पुष्टि पुष्टि—श्रीकृष्ण का अनुग्रह प्राप्त होने पर भी भक्ति की साधना अधिकाधिक होती रहे। इसी का नाम 'पुष्टि-पुष्टि' है।

४—शुद्धपुष्टि—मात्र प्रेम तथा अनुराग के आधार पर श्रीकृष्ण का अनु-

मह प्राप्त कर हृदय में श्रीकृष्ण की अनुभूति हो। यह अनुभूति श्रीकृष्ण का स्थान हृदय को बना दे तथा गौ, गोप, यमुना, गोपी और कदम्ब आदि के सम्बन्ध से उसे कृष्णमय कर दे। वही 'शुद्धपुष्टि' है।

इसी शुद्धपुष्टि' को वल्लभ ने अपने सम्प्रदाय का चरम उद्देश्य माना है। इसके अनुसार वे प्राणी को राधाकृष्ण के साथ गोलोक में स्थान पा जाने पर ही सार्थक समझते हैं।

जिस प्रकार रामानुजाचार्य से प्रभावित होकर उनके अनुयायी स्वामी रामानन्द ने विष्णु या नारायण के रूप राम की भक्ति का प्रचार उत्तर-भारत में किया, उसी प्रकार निम्बार्क, मध्व तथा विष्णु गोस्वामी के आदर्शों को मान-कर उनके अनुयायी महाप्रभु चैतन्य और आचार्य वल्लभ ने विष्णु के रूप में श्रीकृष्ण की भक्ति का प्रचार किया। रामानुजाचार्य और अन्य आचार्यों — निम्बार्क, मध्व और विष्णु स्वामी—की भक्ति में कुछ अन्तर है। रामानुज की भक्ति में चिन्तन और ज्ञान दोनों का महत्त्व स्वीकार किया गया है। संसृति से मुक्ति पाने के लिए इसकी विशेष आवश्यकता है। किन्तु इन तीनों आचार्यों की भक्ति में ज्ञान की अपेक्षा प्रेम का महत्त्व अधिक है। इसमें आत्म चिन्तन की उतनी आवश्यकता नहीं, जितनी आत्मसमर्पण की, इसमें श्रवण, कीर्तन, स्मरण, अर्चन, वंदन और आत्म निवेदन की अधिक आवश्यकता है। इस भक्ति की उद्भावना प्रेम से होती है।

भगवान् श्रीकृष्ण की यह भक्ति महाभारत काल से आकर ईसा की पन्द्रहवीं सोलहवीं शताब्दी में महाप्रभु चैतन्य और आचार्य वल्लभ की प्रतिभा का योग पाकर भलीभाँति प्रसार पाने लगी। आचार्य वल्लभ ने दार्शनिक क्षेत्र में जैसे 'शुद्धाद्वैत' की प्रतिष्ठा की, वैसे ही भक्ति के क्षेत्र में 'पुष्टिमार्ग' की। आचार्य वल्लभ के इस 'पुष्टिमार्ग' में अनेक प्रतिभा-सम्पन्न लोग दीक्षित हुए, जिन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति पर श्रेष्ठ रचनाएँ कीं। इसमें 'अष्टछाप' बहुत प्रसिद्ध है। इसकी स्थापना वल्लभाचार्य के पुत्र श्रीविट्ठलनाथ ने की। इसी अष्टछाप के कवियों में महात्मा सूरदास तथा नन्ददास आदि ब्रजभाषा के स्फुट कवि हुए।

(ग) **कवि और रचनाएँ**—हिन्दी-साहित्य में कृष्ण काव्य की रचना विद्वानों ने कवि 'जयदेव' से मानी है। जयदेव के बाद विद्यापति हुए, किन्तु विद्यापति कृष्णभक्तों की परम्परा में नहीं थे। वे शैव थे। श्रीकृष्ण से सम्बन्धित उन्होंने जो रचना की, उसमें उनका दृष्टिकोण भक्ति का न होकर केवल शृङ्गार का ही रहा। आगे चलकर वास्तविकरूप से व्रजभाषा में कृष्ण काव्य की रचना का श्रेय वल्लभाचार्य को ही है। क्योंकि उनके द्वारा प्रचारित 'पुष्टिमार्ग' में दीक्षित होकर सूरदास आदि कवियों ने कृष्ण काव्य की रचना की। कृष्ण काव्य के कवियों में सर्वश्रेष्ठ कवि महात्मा सूरदास हैं। इनके अतिरिक्त छोटे-बड़े और भी कवि हैं जिनके नाम हैं—नन्ददास, कृष्णदास, परमानन्ददास, कुम्भनदास, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी, गोविन्दस्वामी, मीरा बाई, छीहल, लालदास, श्रीगिरधरभट्ट, कृपाराम, सूरदासमदनमोहन, नरोत्तमदास, हरिराय, ललीर, गोविन्ददास, स्वामीहरिदास, हितहरिवंश, श्रीभट्ट, व्यासजी, निपटनिरंजन, लक्ष्मीनारायण, बलभद्र मिश्र, गणेश मिश्र, कादिर, मोहन, मुबारक, बनारसीदास, रसखान, ब्रजभार दीक्षित, अहमद, भीष्म, ध्रुवदास, सुन्दरदास, चतुरदास, भुवाल, धर्मदास, सुखदेव मिश्र, रसिकदास, हरिवल्लभ, जगनानन्द, मनोहर कवि, जयतराम, रहीम, बीरबल, होलराय, टोडरमल, नरहरिवन्दीजन और गंग। इनके अतिरिक्त आधुनिककाल के कवियों में अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध', बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर', बाबू मैथिलीशरण गुप्त और ठाकुर गोपालशरण सिंह आदि हैं।

कृष्ण काव्य के इन सभी कवियों में सर्वश्रेष्ठ कवि महात्मा सूरदास हैं। ये वल्लभाचार्य के प्रधान शिष्य थे। हिन्दी में रामकाव्य के कवियों में जो स्थान गोस्वामी तुलसीदासजी का है, वही स्थान कृष्ण काव्य के कवियों में महात्मा सूरदास का भी है। यद्यपि तुलसीदासजी की भाँति सूर का काव्य क्षेत्र इतना विस्तृत नहीं है कि उसमें जीवन की विभिन्न दशाओं का चित्रण हो, किंतु शृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में जहाँ तक सूरदास पहुँच सके, वहाँ तक और कवियों को पहुँचने का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ। बालकों के स्वाभाविक भावों की व्यंजना में जितना सुन्दर रचना इस कवि ने की, उतनी बालसुलभ

ऐसा ही सूरदास ने भी किया है। सूर ने भागवत के अनुरूप कथा कहने पर भी इसमें मौलिकता लादी है। सूरसागर की रचना को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। १—विनय के पद, २—बाललीला वर्णन और ३—शृङ्गार-वर्णन।

विनय के पदों में सूर का एक सुन्दर गायक की भाँति माना जा सकता है। आत्म-परिष्कार और प्रबोधन के लिए विनय का विशेष महत्व है। वास्तव में भगवान् और भक्त के बीच की यही कड़ी है। इसी के माध्यम से आत्म संस्कार के साथ जीवन भावना के क्षेत्र में भी परिवर्तन होता है। मनुष्य व्यष्टि से ऊपर उठकर समष्टि चेतना की ओर प्रेरित होता है। वैष्णव सम्प्रदाय के अनुसार विनय के द्वारा भगवत् आश्रय ग्रहण करने में निम्नांकित नियमों का पालन आवश्यक होता है :—

> 'आनुकूल्यस्य संकल्पः, प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्,
> रक्षिष्यतीति विश्वासो तथा गोप्तृत्व वर्णनम्
> आत्म निक्षेप कार्पण्य षड्विधा शरणागति।

अर्थात् अपने इष्टदेव के अनुकूल गुणों को धारण करने का संकल्प, प्रतिकूल गुणों का त्याग, ईश्वर के संरक्षण में दृढ़ विश्वास, अपने गोप्ता यानी रक्षक का गुणगानपूर्ण आत्मसमर्पण का भाव तथा दीनता और अपने पापों का प्रकट करते हुए उनके मार्जन के लिए विनय करना। महात्मा सूर के पदों में इन्हीं नियमों की व्यंजना मिलती है। वास्तव में भक्त हृदय के उद्गारों एवं विशेषताओं के आधार पर इस प्रकार की व्यवस्था निर्धारित की गयी है। महात्मा सूर के विनय के पद इसी प्रकार हैं :—

> 'बन्दौं चरन कमल हरि राइ।

पर स्वयं सूरदास ने भी किया है। सूर ने भागवत के अनुरूप कथा कहने पर भी इसमें मौलिकता लाटी है। सूरसागर की रचना को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। १—विनय के पद, २—बाललीला वर्णन और ३—शृङ्गार-वर्णन।

विनय के पदों में सूर को एक मुक्त गायक की भाँति माना जा सकता है। आत्म-परिष्कार और प्रबोधन के लिए विनय का विशेष महत्व है। वास्तव में भगवान् और भक्त के बीच की यही कड़ी है। इसी के माध्यम से आत्म-विस्तार के साथ जीवन भावना के केन्द्र में भी परिवर्तन होता है। मनुष्य व्यष्टि से ऊपर उठकर समष्टि-चेतना की ओर प्रेरित होता है। वैष्णव सम्प्रदाय के अनुसार विनय के द्वारा भगवत् आश्रय ग्रहण करने में निम्नांकित नियमों का पालन आवश्यक होता है :—

"अनुकूलस्य संकल्पं, प्रतिकूलस्य वर्जनम्,
रक्षिष्यतीति विश्वासो तथा गोप्तृत्व वर्णनम
आत्म निक्षेप कार्पण्य षड्विधा शरणागतिः।"

अर्थात् अपने इष्टदेव के अनुकूल गुणों को धारण करने का संकल्प, प्रतिकूल गुणों का त्याग, ईश्वर के संरक्षण में दृढ़ विश्वास, अपने गोप्ता यानी रक्षक का गुणगानपूर्ण आत्मसमर्पण का भाव तथा दीनता और अपने पापों को प्रकट करते हुए उसके मार्जन के लिए विनय करना। महात्मा सूर के पदों में इन्हीं नियमों की व्यंजना मिलती है। वास्तव में भक्त हृदय के उद्‌गारों एवं विदग्धताओं के आधार पर इस प्रकार की व्यवस्था नियमित की गयी है। महात्मा सूर के विनय के पद इसी प्रकार हैं :—

"बन्दौं चरण कमल हरि राई।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै अँधरे को सब कुछ दरसाई॥"

उपर्युक्त पद में अपने आराध्य के महत्व की व्यापक स्वीकृति के साथ दीनता की मार्मिक व्यजना की गयी है। इसी प्रकार निम्नांकित पद में :—

"मेरी तो गति पति तुम, अनतहिं दुख पाऊँ।
हौं कहाय तेरौ अब, कौन को कहाऊँ॥"

कितनी अपार श्रद्धा, विश्वास तथा आत्मग्लानि का समन्वय देखने को मिलता है। भगवद्विषयक रति, वात्सल्य और दाम्पत्य रति को ग्रहण कर सूरदास ने जिस प्रकार भगवद्विषयक पदों में विनय की अत्यन्त मार्मिक सृष्टि की, उसी प्रकार बाललीला के पदों में वात्सल्य प्रेम और गोपियों के प्रेम सम्बंधी पदों में दाम्पत्य रति भाव की अत्यन्त हृदयस्पर्शी व्यंजना की है। नीचे सूर की बाललीला और शृंगार विषयों की विवेचना करेंगे।

बाललीला— बाललीलाओं का जितना विस्तृत स्वाभाविक और मनोहर चित्रण सूर ने किया है, उतना विस्तृत स्वाभाविक और मनोहर वर्णन अन्यत्र नहीं मिलता। कवि सूर ने अपनी रचना में शैशवकाल से लेकर कौमारावस्था तक की कितनी ही बाल्य भावों की सुन्दर और स्वाभाविक व्यंजना कर हिन्दी-साहित्य के भाण्डार को भरा है। बाल चेष्टाओं के कुछ उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं :—

'मैया कबहिं बढ़ेगी चोटी?
किती बार मोहि दूध पियत भई, यह अजहूं है छोटी।
तू जो कहति बल की बेनी ज्यों ह्वै है लाँबी मोटी॥"
"सोभित कर नवनीत लिए।
घुटुरुवन चलत, रेनु तन मंडित, मुख दधि लेप किए॥"
"पाहुनी करि दै तनक मह्यो।
आरि करै मनमोहन मेरो, अंचल आनि गह्यो॥
व्याकुल मथत मथनिया रीति, दधि भ्वै ढरकि रह्यो॥"

बालकों की सरल से सरल प्रवृत्तियों का चित्रण करने में सूरदास ने उन्हें बालकों के हृदय में पैठ कर यथातथ्य उनकी भावनाओं को ग्रहण करने की चेष्टा की है। इसके अतिरिक्त सूर ने भगवान् श्रीकृष्ण के जन्मोत्सव, छठी, बरही, नामकरण, अन्नप्राशन, बधावा आदि का मनोवैज्ञानिक ढंग से चित्रण किया है।

"भीतर ते बाहर लौं आवत।
घर आँगन अति चलत सुगम भयो देहरी में अटकावत॥

गिर गिर परत जात नहि उलँघी अति श्रम होत न धावत।
अहुठ पैर वसुधा सब कीन्ही धाम अवधि बिरमावति॥
मन ही मन बलवीर कहत हैं ऐसे रंग बनावत।
'सूरदास' प्रभु अगणित महिमा भक्तन के मन भावत॥"

बालकों का देहरी पार करने के लिए बार-बार प्रयत्न करना सूरदास के सूक्ष्म-निरीक्षण का उज्वल प्रतीक है। इसी प्रकार बालक श्रीकृष्ण गोपियों का दही चुराकर घर में छिप जाता है और गोपियाँ यशोदा को उलाहना देने आती हैं इसमें कितनी स्वाभाविकता है :—

"जसोदा कहाँ लौं कीजै कानि।
दिन प्रति कैसे सही परति है दूध दही की हानि॥
अपने या बालक की करनी जो तुम देखो आनि।
गोरस खाइ ढूँढि सब बासन भली करी यह बानि॥
मैं अपने मन्दिर के कोने माखन राख्यो जानि।
सोइ जाइ तुम्हारे लरिका लीनो है पहिचानि॥
बूझी ग्वालिन घर में आयो नेकु न सका मानी।
'सूरस्याम' तब उतर बनायो चींटी काढ़तु पानी॥"

शृंगार वर्णन—शृंगार वर्णन के अन्तर्गत महात्मा सूर ने भगवान् श्रीकृष्ण के चरित्र में सयोग और वियोग दोनों पक्षों को अपनाया है और सफल रचना की है। किन्तु सूर की वियोग पक्ष की रचनाएँ ही अत्यन्त उत्कृष्ट हैं। तुलसीदास की भाँति यद्यपि सूरदास ने मर्यादा का निर्वाह तो नहीं किया है, किन्तु इतना तो मानना ही होगा कि सूर के शृंगार-वर्णन में रस का पूर्ण परिपाक होने पर भी अश्लीलता नहीं आने पायी है। ऊपर हम लिख आए हैं कि सूर की भक्ति सख्य भाव की है अतः इस दृष्टि से यदि शालीनता और मर्यादा का निर्वाह सूर ने नहीं किया तो न सही, किन्तु राधा और श्रीकृष्ण का शृंगार-वर्णन पढ़ते हुए यह तो ज्ञात ही हो जाता है कि कवि अपने आराध्य राधा तथा श्रीकृष्ण का शृंगार-वर्णन कर रहा है, जो ईश्वरीय शक्तियों से विभूषित हैं। सूर ने साधारण स्त्री पुरुषों की भाव-भंगिमाओं का

चित्रण उपस्थित करते हुए भी दिव्य शक्तियों में संलग्न राधा-कृष्ण के शृंगार वर्णन में पवित्रता का ध्यान रखा है। जिस कल्याणकारी भक्ति-भावना की सृष्टि सूर ने श्रीराधा-कृष्ण के शृंगार-वर्णन में की, उसे अन्य रीतिकाल के कवि न अपना सके। क्योंकि दरबारी कवियों की रचनाएँ, जहाँ तलवारों की खनखनाहटों के स्थान पर खिलखिला कर घुंघरुओं की ध्वनियों से अनुरणित वातावरण था, वासना के लाञ्छन में लुप्त हो गयी। डाक्टर रामकुमार वर्मा के शब्दों में—'सूर ने जो शृंगार लिखा है उसकी एक बूंद भी ये बेचारे कवि नहीं पा सके हैं। जिस प्रकार की उज्ज्वल शिखा से काजल निकलता है, उसी प्रकार सूर के उज्ज्वल और तेजोमय पवित्र शृंगार से अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी का कलुषित शृंगार प्रादुर्भूत हुआ।* यद्यपि वासना जाग्रत करने के उपकरणों का पाठकों के समक्ष सूरदास चित्रण अवश्य उपस्थित करते हैं, किन्तु वे सौन्दर्य की इतनी सुन्दर सृष्टि कर देते हैं कि पाठक का हृदय उसके रूप पर ही अधिक मुग्ध हो जाता है उसमें वासना की भावना जाग्रत होने के लिए अवसर ही नहीं प्राप्त होता।

महाकवि सूर ने सामान्य हृदय-तत्व की सृष्टिव्यापिनी भावना के माध्यम से वियोग का जो वर्णन किया है, वह विश्व साहित्य में अपनी एक विशेषता रखता है। सूरदास की वियोग-रचना में विरह जीवन के जितने चित्र हैं, वे भावनाओं की गहरी अनुभूति लिए हुए हैं। विद्वानों ने विरह की जो ग्यारह अवस्थाएँ मानी हैं, अर्थात् अभिलाषा, चिन्ता, स्मरण, गुण-कथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता, मूर्च्छा और मरण इन सबों का उचित वर्णन 'भ्रमरगीत' के अन्तर्गत मिलता है जिसके उदाहरण नीचे दिए जाते हैं :—

१—अभिलाषा—"निरखत अंक स्यामसुन्दर के बार बार लावति छाती।
लोचन जल कागद मसि मिलि कै ह्वै गइ स्याम स्याम की पाती ॥"

* देखिए हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास तृतीय संस्करण पृ० ५-७।

२—चिन्ता—"मधुकर ये नैना पै हारे ।
निरखि निरखि मग कमल नयन को प्रेम-मगन भए भारे ॥"

३—स्मरण—"मोहि मन इतनो सूल रह्यो ।
वे बतियाँ छतियाँ लिखि राखीं जे नँदलाल कह्यो ॥"

४—गुणकथन—"संदेसो देवकी सों कहियो ।
हौं तो धाय तिहारे सुत की, कृपा करत ही रहियो ॥
उबटन तेल और तातो जल, देखत ही भजि जाते ।
जोइ जोइ माँगत सोइ सोइ देती धर्म कर्म के नाते ॥
तुम तो टेव जानती ह्वैहौ तऊ मोहि कहि आवै ।
प्रात उठत मेरे लाल लड़ैतहि माखन रोटी भावै ॥
अब यह सूर मोहि निसि-बासर बड़ो रहत जिय सोच ।
अब मेरे अलक लड़ैते लालन ह्वैहैं करत सँकोच ॥"

५—उद्वेग—"तिहारी प्रीति किधौं तरवारि ।
दृष्टिधार करि मारि साँवरे, घायल सब ब्रजनारि ॥"

६—प्रलाप—"कैसे के पनघट जाउँ सखीरी डोलौं सरिता तीर ।
भरि भरि जमुना उमड़ चली है, इन नैनन के नीर ॥
इन नैनन के नीर सखीरी, सेज भई घरनाउँ ।
चाहति हौं याही पर चढ़ि कै स्याम मिलन को जाउँ ॥"

७—उन्माद—"माधव यह ब्रज को ब्यौहार ।
मेरो कह्यो पवन को भुस भयो गावत नन्दकुमार ॥
एक ग्वालि गोधन लै रेंगति, एक लकुट करि लेति ।
एक मण्डली करि बैठारति, छाक बाँटि कै देति ॥"

८—व्याधि—"ऊधो जू मैं तिहारे चरन, लागौं बारक या ब्रज करबि भाँवरी ॥
निसि न नींद आवै, दिन न भोजन भावै मग जोवत भई दृष्टि झाँवरी ॥"

९—जड़ता—"बालक संग लिए दधि चोरत, खात खवावत डोलत ।
'सूर' सीस सुनि चौंकत नावहि, अब काहे न मुख बोलत ॥"

१०—मूर्च्छा—"सोचति अति पछतानि राधिका, मूर्च्छित धरनि ढही ।

'सूरदास' प्रभु के निठुरे ते, विथा न जात सही ॥"

११—मरण—"जब हरि गवन कियो पूरब लौं, तब लिखि जोग पठायो।
यह तन जरि कै भस्म ह्वै निबर्यो बहुरि मसान जगायो ॥
कै रे, मोहन आनि मिलाओ, कै ले चलु हम साथे।
'सूरदास' अब मरन बन्यो है, पाप तिहारे माथे ॥"

इस प्रकार महात्मा सूर ने विरह-वर्णन का सांगोपांग वर्णन कर हिन्दी साहित्य के गौरव का स्तरोन्नयन किया है। शृंगार-वर्णन के दोनों पक्षों मे सूर को अद्भुत सफलता मिली है। संयोग वियोग की विभिन्न दशाओं के अनेक सुन्दर और मनोमुग्धकारी चित्रों को अपनी रचना में सूर ने उपस्थित किया है। वियोग संबंधी पदों का संग्रह 'भ्रमरगीत' में किया गया है। 'भ्रमर-गीत' को उपालम्भ का अत्यन्त उत्कृष्ट संग्रह समझना चाहिए।

रस—शृंगार के साथ ही साथ सूर ने करुण और हास्यरस की भी व्यंजना की है। श्रीकृष्ण के मथुरा से ब्रज न लौटने की निराशा से करुणरस और उद्धव के ज्ञान मार्ग के परिहास से हास्यरस की सृष्टि हुई है। नीचे कुछ उदाहरण दिए जाते हैं:—

करुणरस—"अति मलीन वृषभानु कुमारी।
हरिश्रम जल अन्तर तनु भीजे ता लालच न धुवावति सारी ॥
अधोमुख रहति उरध नहिं चितवति, ज्यों गथ हारे थकित जुआरी।
छूटे चिहुर बदन कुम्हिलाने, ज्यों नलिनी हिमकर की मारी ॥
हरि सँदेस सुनि सहज मृतक भई इक विरहिन दूजे अलि जारी।
'सूरस्याम' बिनु यों जीवत हैं ब्रज-बनिता सब स्याम दुलारी ॥"

हास्यरस—"निर्गुन कौन देस को बासी।
मधुकर हँसि समुझाय सौंह दै बूझति साँच न हाँसी ॥
को है जनक जननि को कहियत, कौन नारि को दासी।
कैसो बरन भेस है कैसो वहि रस में अभिलासी ॥"

इन रसों के अतिरिक्त सूरदास ने दूसरे रसों का भी वर्णन किया है। किन्तु सब गौणरूप मे हैं। इन रसों मे कोमल —[illegible] प्रधान है। निसर्गो

रूना अद्भुत और शान्त की है।

रस निरूपण में सूर ने मनोवैज्ञानिक भावनाओं को सरस राग-रागिनियों में वर्णित किया है जिनके प्रभाव से सूर की रचना अत्यन्त मधुर और आकर्षक हो गयी है। रस निरूपण में निम्नलिखित राग रागिनियों का प्रयोग सूर ने किया है :—

शृंगाररस के अन्तर्गत – ललित, गौरी, बिलावल, सूहो और वसन्त, हास्यरस के अन्तर्गत—टोड़ी, सोरठ, सारंग, और शान्तरस के अन्तर्गत—रामकली आदि। इसके अतिरिक्त सूर ने विभास, नट, कल्याण और मलार आदि रागों का भी यथास्थान प्रयोग किया है।

अलंकार-योजना - महात्मा सूर की रचना में अलंकार भी अधिक आए हैं, जिनमें शब्दालंकार की अपेक्षा अर्थालंकार की योजना प्रधान है। शब्दालंकार का प्रयोग प्रायः चमत्कार प्रदर्शन की दृष्टि से होता है, किन्तु अर्थालंकार में चमत्कार के अतिरिक्त अर्थ-व्यंजना की प्रधानता रहती है। सूर की अलंकार योजना अर्थ-व्यंजना के लिए ही हुई है। रचना में कहीं-कहीं ऊहात्मक प्रसंगों की योजना विशुद्ध कलात्मक-दृष्टि से की गई है। उनमें भाव सौन्दर्य की अपेक्षा चमत्कार एवं कलात्मकता का अंश अधिक है। सूरदास के कुछ पद दृष्टि-कूट के अन्तर्गत भी आते हैं जिसमें साहित्यिकता संदिग्ध है। प्रस्तुत के सीमित होने के कारण तथा अप्रस्तुत के आधिक्य से सूर की रचना में परिस्थितियों के गाम्भीर्य वर्णन का अभाव मिलता है।

भक्ति-भावना —वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग में 'नारद भक्ति सूत्र' में वर्णित भक्ति के अनुसार ग्यारह प्रकार की भक्ति भगवान श्रीकृष्ण के प्रति प्रतिष्ठित की गयी है। महात्मा सूर ने कृष्ण के प्रति यशोदा, नन्द, गोप और गोपियों की आसक्ति के माध्यम से इन सभी ग्यारह आसक्तियों की व्यंजना की है। भ्रमरगीत में गुणमाहात्म्यासक्ति, दानलीला में रूपासक्ति, गोवर्द्धन धारण में पूजासक्ति, गोपिका वचन परस्पर में स्मरणासक्ति, मुरली-स्तुति में दास्यासक्ति, गौ-चारण में सख्यासक्ति, गोपिका विरह में कान्तासक्ति, यशोदा विलाप में वात्सल्यासक्ति, और शेष आत्मनिवेदनासक्ति और परम विरहासक्ति भ्रमरगीत

की रचना में वर्णित हैं। महात्मा सूर ने उपर्युक्त ग्यारह आसक्तियों की बड़ी सुन्दर व्यंजना की हैं। पुष्टिमार्ग के अन्तर्गत कीर्त्तन का विशेष महत्व है, क्योंकि वल्लभाचार्य के आदेश से सूरदास श्रीनाथ और नवनीतप्रियाजी के समक्ष कीर्त्तन किया करते थे। इस कीर्त्तन में 'सूरसागर' के अनेक पदों की रचना हुई है। पुष्टिमार्ग के अन्तर्गत श्रीकृष्ण के चरित्र का जो वर्णन है, उसमें प्रभातों से उठना, शृंगार करना, गो-चारण, भोजन और शयन आदि प्रमुख हैं। इनमें सम्बंधित पदों में साम्प्रदायिक दृष्टि से पुष्टिमार्ग के सिद्धान्तों का प्रचार भी था। इसके अतिरिक्त डाक्टर रामकुमार वर्मा के शब्दों में—"*श्रीकृष्ण की मुरली 'योगमाया' है। रास वर्णन में इसी मुरली की ध्वनि में* गोपिका रूप आत्माओं का आह्वान होता है, जिससे समस्त वाह्याडम्बरों का विनाश और लौकिक सबंधों का परित्याग कर दिया जाता है। गोपियों की परीक्षा, उसमें उत्तीर्ण होने पर उनके साथ रास क्रीड़ा, १६ सहस्र गोपिकाओं के बीच में श्रीकृष्ण, जिस प्रकार असंख्य आत्माओं के बीच में परमात्मा है यही रूपक है। लौकिक चित्रण के पीछे सूरदास की यही अलौकिक भावना छिपी है। *ऊपर लिखा जा चुका है कि सूर की भक्ति सख्य भाव की थी किन्तु आरंभिक कुछ पद तुलसीदास के दृष्टिकोण में मिलते हुए, दास्य भाव के हैं। *शेष सभी पद तो सख्य भाव के अन्तर्गत ही लिए जायगे। गोस्वामी तुलसी* दास की भाँति इन्होंने मूर्तिपूजा, तीर्थव्रत, वेद महिमा और वर्णाश्रम-धर्म पर ज़ोर नहीं दिया और इनकी रचना में धर्म-प्रचार की उतनी भावना तथा *लोक-रक्षा की स्थापना नहीं हुई है, जितनी तुलसीदास की रचना में पाई* जाती है। किन्तु इतना होने पर भी विनय के पदों में सगुणोपसाना का प्रयोजन, भक्ति की प्रधानता, और मायामय संसार आदि पर उत्कृष्ट पद हैं। इसके अतिरिक्त भगवान् विष्णु के चौबीस अवतारों पर भी इन्होंने रचना की है। महात्मा सूर ने सगुणोपासना का निरूपण बड़े ही मार्मिक ढंग से किया है।

*देखिए 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' डाक्टर रामकुमार वर्मा कृत, तृतीय संस्करण पृ० ५३३।

'भ्रमरगीत' में मर्मस्पर्शी एवं वाग्वैदग्ध्यपूर्ण रचना करने के साथ ही-साथ निर्गुण-ब्रह्मज्ञान एवं योग कथा के समक्ष सगुणोपासना की प्रतिष्ठा कर अपने समय में प्रचलित निर्गुण-सन्त-सम्प्रदाय की उपासना-पद्धति की सूर ने खिल्ली उड़ाई है। जब गोपियों को उद्धव लगातार निर्गुण उपासना का उपदेश देते ही जाते हैं, तब उनके उत्तर में गोपियाँ कहती हैं :—

"ऊधो ! तुम अपनो जतन करो।" "निर्गुन कौन देस को बासी ?"

वे कहती हैं--दिग्दिगन्त में चारों ओर व्याप्त इस सगुणसत्ता का निषेध कर आप क्यों व्यर्थ ही उसके अव्यक्त तथा अनिर्दिष्ट-पक्ष को लेकर बकवाद करते हैं :—

"सुनि है कथा कौन निर्गुन की, रचि-पचि बात बनावत।
सगुन-सुमेरु प्रकट देखियत तुम, तृन की ओट दुरावत।।"

अन्त में वे कहती हैं कि तुम्हारे निर्गुण से अधिक रस तो हमें श्रीकृष्ण के अवगुणों में ही मिलता है :—

"ऊनो कर्म कियो मातु न बधि, मदिरा मत्त प्रमाद।
सूर स्याम एते अवगुन में निर्गुन तें अति स्वाद।।"

(८) भाषा और उसपर अधिकार—पश्चिमी हिन्दी बोलनेवाले प्रान्तों में गीतों की भाषा ब्रज थी। दिल्ली के निकट भी गीत ब्रजभाषा में ही गाए जाते थे। वास्तव में गीतों की परम्परा बहुत पुरानी है। चाहे वे मौखिक रूप में हों या लिखित। सूर की रचना में ब्रजभाषा का बड़ा परिमार्जित रूप देखने को मिलता है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में कि सूर की "रचना इतनी प्रगल्भ और काव्यांगपूर्ण है कि आगे होनेवाले कवियों की शृंगार और वात्सल्य की उक्तियाँ सूर की जूठी सी जान पड़ती है।" यद्यपि सूरदास के पहले भी ब्रजभाषा में रचना हुई थी; किन्तु भाषा-सौष्ठव का इतना सुन्दर रूप देखने को उसमें नहीं मिलता। उसमें साहित्यिक छटा का अभाव-सा है। यद्यपि सूरदास ब्रजभाषा को छोड़ अन्य भाषा की रचना में न ला सके; किन्तु सूर ने चलते हुए वाक्यों, मुहावरों और कहीं-कहीं कहावतों का भी यथास्थान समुचित प्रयोग किया है। जिसमें बड़ी स्वाभाविकता के दर्शन होते हैं।

काव्य भाषा होने से उसमें अनेक स्थलों पर सस्कृत के पद, कवि के पहले के परम्परागत प्रयोग और व्रज के दूर दूर प्रदेशों के शब्द भी मिलते है ; किन्तु उनकी अधिकता न होने से भाषा के स्वरूप मे कुछ अन्तर या कृत्रिमता नहा आने पाई है। सूर की रचना के उपमान अधिकतर यद्यपि साहित्य प्रसिद्ध ही है, किन्तु स्वकल्पि नवीन उपमानो की भी कमी नहीं है। राम काव्य म व्रजभाषा और अवधी दोनों का प्रयोग हुआ है, किन्तु कृष्ण-काव्य की भाषा केवल व्रज भाषा ही है। यद्यपि सूर के द्वारा व्रजभाषा सस्कृतमय हो गयी और मीरा के द्वारा उसमें मारवाड़ीपन आ गया, किन्तु व्रजभाषा का रूप विकृत न होने पाया।

छन्दों की दृष्टि से कृष्ण-काव्य मे प्राय गीति काव्य का ही स्वरूप मिलता है। कृष्ण-काव्य मुक्तक* के रूप में वर्णित होने के कारण प्राय गेय ही रहा। कृष्ण-काव्य के सभी पद राग रागिनी के आधार पर लिखे गए है। अत कृष्ण-काव्य सगीतात्मक है। सूर, मीरा आदि ने पदो मे ही रचना की, किन्तु कुछ कवियों ने—नन्ददास आदि—रोला, दोहा आदि छन्दों का भी प्रयोग किया। प्रारभ में सूर ने भी रोला और चौपाई छन्द अपनाया है, पर पदो मे उन्होंने अधिक रचना की।

रस की दृष्टि से समूचे कृष्ण काव्य में शृगार, अद्‌भुत और शान्त रस की प्रधानता है। सयोग और वियोग दोनों पक्षों के साथ साथ शृगार रस म वर्णन हुआ है। रति भाव के प्राधान्य से शृगार की प्रधानता कृष्ण-काव्य की विशेषता है। यद्यपि इस धारा मे हास्य तथा वीर रस का भी यत्र-तत्र दर्शन होता है, किन्तु प्रधानता तो शृगार रस की ही है।

(च) कृष्ण-काव्य और भक्ति का प्रसरण—राम भक्ति का प्रचार

*यद्यपि सूर की रचना मे श्रीकृष्ण के शिशुकाल से गोचारण तक के क्रमश चित्र उपस्थित है, जिनमे इतिवृत्तात्मकता की झलक पायी जाती है, किन्तु इनकी रचना मे मुक्तक की परम्परा का पूर्ण निर्वाह है। प्रत्येक पद अपने म पूर्ण एव स्वतन्त्र हैं। इनमें पूर्वापर सम्बन्ध योजना नहीं दिखाई पड़ती।

उत्तरी भारत में ही अधिकतर हुआ, किन्तु कृष्ण भक्ति मध्यप्रदेश, दक्षिणी भारत, राजस्थान और काठियावाड (जूनागड) आदि प्रान्तों मे भी विकसित होती रही। मध्यप्रदेश एव दक्षिण मे तो वह सम्प्रदायों का रूप धारण कर उठती रही।* जिनके नाम है --दत्तात्रेय सम्प्रदाय, माधव सम्प्रदाय, विष्णु-स्वामी सम्प्रदाय, निम्बार्क सम्प्रदाय, चैतन्य सम्प्रदाय, वल्लभ सम्प्रदाय, राधा वल्लभी सम्प्रदाय और हरिदासी सम्प्रदाय आदि। इन सम्प्रदायों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :--

१--दत्तात्रय सम्प्रदाय--इस सम्प्रदाय के अनुयायी दत्तात्रेय को ही अपने पथ का प्रवर्त्तक मानते है, दत्तात्रेय का रूप तीन सिरों से युक्त है, उनके साथ एक गाय और चार कुत्ते है। तीन सिरों का संकेत त्रिमूर्ति से, गाय का पृथ्वी से और चार कुत्तों का चार वेदों से ज्ञात होता है। इस प्रकार दत्तात्रय में दैवी भावना का आरोपण है। इन्हें भगवान श्रीकृष्ण का अवतार माना जाता है। इस सम्प्रदाय की धार्मिक पुस्तक 'भगवद्गीता' मानी जाती है और श्रीकृष्ण ही आराध्य माने जाते हैं। इसका केन्द्र महाराष्ट्र रहा। इसकी उन्नति विक्रम की चौदहवीं शताब्दी में हुई थी।

२--माधव सम्प्रदाय--विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी में इस सम्प्रदाय की अच्छी उन्नति हुई। मध्वाचार्य से प्रभावित इस सम्प्रदाय के अनुयायियों ने अपना धार्मिक पुस्तक 'भक्तिरत्नावली' मानी है। इस सम्प्रदाय के प्रचारकों में ईश्वरपुरी नामक एक नेता थे। जिन्होंने इस सम्प्रदाय का खूब प्रचार किया। नगर कीर्तन और संकीर्त्तन ही इसमे भक्ति के साधन माने गये।

३--विष्णुस्वामी सम्प्रदाय--इस सम्प्रदाय के आदि प्रवर्त्तक विष्णु स्वामी थे। जिन्होंने शुद्धाद्वैत से इसकी स्थापना की। बिल्वमंगल नामक सन्यासी के द्वारा इस सम्प्रदाय का विशेष प्रचार हुआ। आगे चलकर विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के अन्तिम काल मे यह सम्प्रदाय वल्लभी सम्प्रदाय में मिल

* डा० रामकुमार वर्मा एम० ए० पी-एच० डी० कृत 'हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास तृतीय स० पृ० ६०५ देखिये।

गया, क्योंकि वल्लभाचार्य ने विष्णुस्वामी के सिद्धान्तानुसार ही पुष्टिमार्ग की स्थापना की।

४—निम्बार्क सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय के प्रचारकों में केशव काश्मीरी, हरिव्यास मुनि तथा श्रीभट्ट मुख्य थे। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक का अभी तक पता नहीं चला है। इस मत का विकासकाल विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी ही है। इस मत में भगवान श्रीकृष्ण के सकीर्तन को प्रमुख स्थान दिया जाता है।

५—चैतन्य सम्प्रदाय—इस मत की सोलहवीं शताब्दी में स्थापना हुई। विश्वम्भर मिश्र ने, जिनका दूसरा नाम श्रीकृष्ण चैतन्य था, ईश्वरपुरी के सिद्धान्तों के अनुसार श्रीमद्भागवत महापुराण में वर्णित भक्ति का आदर्श स्वीकार किया। इन्होंने जिन पदों को गा-गाकर इस सम्प्रदाय का प्रचार किया, उनमें जयदेव, चण्डीदास और विद्यापति के श्रीकृष्ण विषयक पद मुख्य हैं। श्रीकृष्ण-भक्ति में महाप्रभु चैतन्य ने राधा को विशेष स्थान दिया। इसका प्रचार सम्पूर्ण उत्तरी भारत में हुआ। इस मत के अनुयायियों में सार्वभौम, ओड़ी-साधिपति, प्रतापरुद्र तथा रामानन्द राय प्रमुख थे। राधाकृष्ण सबधी पदों की रचना करनेवाले कवियों मे और चैतन्य की भक्ति का प्रचार करनेवालों में नरहरि, वासुदेव तथा वंशीयादव विशेष उल्लेखनीय हैं। इस मत के सगठन कर्त्ता नित्यानन्द थे और रूप एवं सनातन ने वृन्दावन के निकट धर्म-तत्व का स्पष्टीकरण किया। इस मत में दार्शनिक दृष्टिकोण के विचार से निम्बार्क का द्वैताद्वैत मत ही ग्राह्य है। इस मत की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें जाति बन्धन का विशेष प्रतिबंध नहीं है।

६—वल्लभ सम्प्रदाय—इस मत के संस्थापक आचार्य वल्लभ थे, जिन्होंने विक्रम की सोलहवीं शताब्दी मे इसकी स्थापना की। 'पुष्टि' के ही सिद्धान्त इस मत में मान्य हैं। दार्शनिक दृष्टिकोण से इस मत में शुद्धाद्वैत के ही नियम प्रचलित थे। वल्लभाचार्य एव विट्ठलनाथ के चार-चार शिष्यों ने (जिनसे 'अष्टछाप' की स्थापना हुई) इस मत का प्रचार किया। इस सम्प्रदाय के प्रचार में श्रीगोकुलनाथ की "चौरासी वैष्णवन की वार्ता" से भी बड़ा योग मिला। महात्मा सूरदास इसी मत के कवि थे। अठारहवीं शताब्दी के अन्त में

व्रजवासीदास ने 'व्रजविलास' की रचना कर इस मत के अन्तर्गत राधा का स्थान विशेष निर्दिष्ट किया। इस मत की विशेषता यह थी, कि श्रीकृष्ण की भक्ति सख्य-भाव की थी। सन्तों के मत के अनुसार इस मत में भी भगवान् श्रीकृष्ण के समान ही गुरु-महत्व स्वीकार किया गया है। इस सम्प्रदाय की मुख्य पुस्तकें है—'वेदान्त सूत्र अनुभाष्य', 'तत्वदीप निबन्ध' एवं 'सुबोधिनी' आदि, जो आचार्य वल्लभ कृत हैं।

७—राधा वल्लभी सम्प्रदाय—हित हरिवंश ने इस सम्प्रदाय की स्थापना सं० १६८२ में वृन्दावन धाम में की। निम्बार्क और माधव सम्प्रदाय से इस मत ने बड़ी शक्ति प्राप्त की। हित हरिवंश ने 'राधासुधा निधि' नामक एक संस्कृत ग्रन्थ का प्रणयन किया, जिसमें १७० पद हैं। इसी प्रकार हिन्दी में इन्होंने 'चौरासी पद' तथा 'स्फुटपद' की रचना की। इस सम्प्रदाय में कृष्ण से ऊँचा राधा का स्थान है। वास्तव में इस मत के अनुसार भक्त लोग राधा के पूजन पर ही श्रीकृष्ण के अनुग्रह के अधिकारी होते हैं। यद्यपि वल्लभ सम्प्रदाय ने भी राधा को महत्वपूर्ण स्थान दिया, किन्तु राधावल्लभी सम्प्रदाय ने राधा को सर्वश्रेष्ठ पद दिया।

८—हरिदासी सम्प्रदाय—स्वामी हरिदास ने ही इस मत को चलाया इनका आविर्भाव काल विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी का अन्तिम समय माना जाता है। चैतन्य मत से इस मत का सिद्धान्त बहुत कुछ मिलता जुलता है। इस मत का प्रमुख आधार स्वामी हरिदास के पदों का कीर्तन ही माना गया है।

(ड) विशेषता—उपर्युक्त विवरण के अनुसार महाप्रभु चैतन्य एवं आचार्य वल्लभ ने भगवान् कृष्ण की पूजा का जो रूप निर्धारित किया, वह विशेष आकर्षक था। माधुर्यभाव, एवं वात्सल्य की उपासना के अन्तर्गत भगवान श्रीकृष्ण के शृंगारिक पक्ष की ही प्रमुखता थी। गोपियों का प्रेम, श्रीकृष्ण का रूप माधुरी, कृष्ण और गोपियों का विहार, आदि विषयों का प्रतिपादन बड़ी ही प्रवीणता के साथ हुआ। इन समस्त वर्णनों में अलौकिक तथा आध्यात्मिक तत्व भी सम्मिलित थे, किन्तु जिस शारीरिक आकर्षण के साथ साथ आध्यात्मिक आकर्षण भी

इगति था, वह कालान्तर म स्थिर न रह सका। श्रीकृष्ण की उपासना के अन्तर्गत चैतन्य महाप्रभु ने माधुर्य भाव प्रवणता से उनकी दाम्पत्य प्रेम की व्यजना की। इस प्रेम के अलौकिक रहस्य की धारा अपने वास्तविक रूप मे, विशेष दूर तक प्रभावित न हो सकी। उसने आध्यात्मिक स्वरूप को भिन्न भिन्न भक्तों तथा कवियों ने भिन्न भिन्न रूप से ग्रहण किया। अर्थात् प्रेम के क्षेत्र में प्रेम ही का पतन हुआ या यों कह सकते हैं कि उसमें सासारिक तथा पार्थिव आकर्षण की विकृतावस्था आ गई।

कृष्ण काव्य की एक विशेषता यह है कि राम काव्य धारा के समानान्तर प्रवाहित होते हुए भी यह काव्य धारा राम काव्य से प्रभावित न हो सकी, क्योंकि राम-काव्य के मर्यादावाद और दास्य-भाव के प्रभाव कृष्ण काव्य पर नहीं पड़ सके। कृष्ण-काव्य के अन्तर्गत मूल प्रेरक शक्ति राधा रही है और इस काव्य धारा के माध्यम से राधा का क्रमिक विकास होता रहा। इस भावधारा को लक्ष्य करके साहित्यकारों ने जो भावना अपनायी थी, उसके मूल में प्रेम और शृगार का भावना प्रधान थी। कृष्ण काव्य के अन्तर्गत वर्णय विषय को नवीनतम बनाने का चेष्टा की जाती रही, जिसमे यह विषय अति चिरन्तन होने पर भी नवीन ही बना रहा। एक बात और थी कि कृष्ण-काव्य व कवियों में से किसी भी कवि ने मानव की समग्र प्रवृत्तियों पर उस प्रकार समाधान न उपस्थित किया जिस प्रकार राम-काव्यधारा मे तुलसीदास ने आदर्श की स्थापना करते हुए मानवीय प्रवृत्तियों पर अन्तिम समाधान उपस्थित किया था।